प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष: 23856391

प्रथम संस्करण 2005 ई.
मूल्य 795.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष: 233371, 2335263

*

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक आफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष: 2420404

मुद्रक
ए. के. लिथोग्राफर
दिल्ली

THE
VRAJAJIANA PRACYABHARATI GRANTHAMALA
117

RASĀRṆAVĀLAṀKĀRA
OF
PRAKĀŚAVARṢA

Edited with Hindi Commentary, Introduction, Preface and Indices

By

DR. MADAN MOHAN AGRAWAL
M.A. Ph.D.; D.Litt.
Professor of Sanskrit
University of Delhi
Delhi

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI-110007

Published by :

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bunglow Road, Jawahar Nagar,
Post Box No. 2113,
Delhi-110007; Phone : (011) 23856391

Also available at :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk, Post Box No. 1069
Varanasi-221001
Tele : (0542) 2420404

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K 37/117, Gopal Mandir Lane,
Post Box No. 1129
Varanasi-221001
Tele : (0542) 2335263

First Edition : Delhi, 2005

Price : Rs. 795.00

Printed at :
A.K. Lithographers
Delhi

यो मामशिक्षयत शोधविधिं नवीनं
निम्बार्कदर्शनमथ प्रभविष्णु शीलम् ।
ग्रन्थं समर्प्य गुरवे रसिकाय तस्मै
कार्तज्ञभावभरमाभरते मनो मे ।।

आमुख

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्म आसुव।। *नारायणोपनिषत्*।।

संस्कृत कविता चमत्कारिणी है। वह व्यञ्जना से नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ चमत्कार उत्पन्न करती है, चित्त का विस्तार करती है, अतएव वह विस्मयकारिणी है। इसीलिए उसमें अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। सहृदय भावविभोर हो वाह! वाह! करते रोमांचित हो उठता हैं। आलोचक उसके रस को जानने में अथवा उसके मर्म को समझने में सफल होता है और कभी-कभी तो ऐसे भावों को समझता-समझाता है जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं। इस प्रकार **आलोचना** भारतीय साहित्य में एक अत्यन्त उपादेय विद्या है और **आलोचक** कवि की अपेक्षा कथमपि न्यून अथवा घटकर नहीं है। राजशेखर ने तो 'आलोचनाशास्त्र' को वेद का सप्तम अंग माना है-'उपकारकत्वादलङ्कार: सप्तममङ्गम्'। उनका कथन है कि बिना उसके स्वरूप को जाने वेद के अर्थ का ज्ञान पूरे रूप से नहीं हो सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसके समकक्ष माना जाता है। **आलोचनाशास्त्र** का संस्कृत में सर्वप्रसिद्ध नाम **अलङ्कारशास्त्र** है। कालान्तर में काव्यालोचन के लिए प्रयुक्त **काव्यशास्त्र** एवं **साहित्यशास्त्र**-ये दो शब्द सम्प्रति रूढ़ हो गए हैं और इनके द्वारा ही भारतीय आलोचनाशास्त्र की अभिव्यक्ति है। अस्तु।

भारतीय काव्यशास्त्र की अत्यन्त सशक्त और प्रौढ़ परम्परा है जो भरत से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक प्रवहमान रही है। इसी परम्परा के उदीयमान आचार्य **प्रकाशवर्ष** हैं, जिन्होंने **'रसार्णवालङ्कार'** नामक सकलांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है। **रसार्णवालङ्कार** का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् 1929 में *इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वॉर्टर्लि* नामक जर्नल के वॉल्यूम नं. पांच में रोमन लिपि में हुआ है। इसके सम्पादक मद्रास विश्वविद्यालय के पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा हैं। सम्पादक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में "प्रकाशवर्ष एण्ड हिज् रसार्णवालङ्कार" शीर्षक से एक विस्तृत भूमिका लिखी है। इससे पूर्व सुशील कुमार डे ने सन् 1924 में इस ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण मात्र *बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ऑरियण्टल स्टडीज्* के वॉल्यूम नं. चार, पार्ट-2 के पृष्ठ 283 पर प्रस्तुत किया था, वह भी अपूर्ण व अतथ्य था। कारण कि डे ने उक्त विवरण समयाभाव होने से शीघ्र परीक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया था (द्रष्टव्य-"द रसार्णवालङ्कार ऑव प्रकाशवर्ष", *सेम प्रॉब्लम्स ऑव संस्कृत पोएॅटिक्स*, पृष्ठ 95)। जो भी हो, 'रसार्णवालङ्कार' को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा को ही जाता है।

यह ग्रन्थ एक ही बार प्रकाशित हुआ है। मैंने सुना अवश्य है कि यह ग्रन्थ हिन्दी-अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ है, किन्तु मुझे देखने को नहीं मिला है। अतएव ऋषि-ऋण से मुक्ति पाने की दिशा में इस ग्रन्थ का सम्पादन व हिन्दी-व्याख्यान करने का मेरा यह एक अत्यन्त साधारण प्रयास है।

पण्डित वेंकटराम शर्मा ने 'रसार्णवालङ्कार' का अपना संस्करण *मद्रास गवर्नमेंण्ट ऑरियण्टल मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी* से प्राप्त दो पाण्डुलिपियों के आधार पर तैयार किया है। उन्होंने अपने संस्करण में इक्कीस (21) स्थानों पर मूल पाठ में संशोधन किए हैं, जो इस प्रकार हैं--

(1) 'हतं देशकाललोक°', 1.40; (2) 'नीलं च पाश°' के स्थान पर 'नीलं पलाश°', 2.51; (3) 'तं विचक्ष्यामि' के स्थान पर 'तां विवक्षामि', 2.54; (4) 'न प्रगृह्यादिहेतुकम्', 2.55; (5) 'सर्वं सर्वेण', 2.64; (6) 'हास्यादावव्युत्पन्नमपि', 2.71; (7) 'अथेदमपि' के स्थान पर 'अपक्रमो'पि', 2.77; (8) 'निसर्गसु', 3.2; (9) 'चित्रणि यु', 3.29; (10) 'तत्तादृ॰' के स्थान पर 'तां तादृ॰', 3.29; (11) 'भरतैः प्रयोज्या' के स्थान पर 'पुरुषप्रयोज्या' या 'नृवरप्रयोज्या', 3.32; (12) 'त्यागेन' के स्थान पर 'न्यायेन', 3.34; (13) 'चित्तभावा॰' के स्थान पर 'शोकभावा॰', 3.34; (14) 'चेष्टमलङ्॰', 3.38; (15) 'प्रश्नोत्तरनाम्ना...... क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ञैराकीर्णमन्त्रेणे', 3.82; (16) 'न धेयम्' के स्थान पर 'निधेयम्', 3.97; (17) 'भां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य', 3.97; (18) 'तिहेतु॰' के स्थान पर 'तिर्हेतु॰', 4.2; (19) 'इंगिताकार', 4.14; (20) 'रस इत्यु॰' के स्थान पर 'सार इत्यु॰', 4.17; (21) 'गुप्त' के स्थान पर 'गुक्तम्', 4.24.।

इसके अतिरिक्त, उन्होंने एक सौ दो (102) स्थानों पर मूल में त्रुटित पाठों को रिक्त छोड़ दिया है तथा पांच (5) स्थानों पर प्रश्नचिह्न लगाकर विकल्पात्मक पाठों से पूर्ति की है। इस प्रकार दुर्भाग्य से यह मुद्रित संस्करण असन्तोपजनक है। पाण्डुलिपियाँ दो ही हैं, मुद्रित संस्करण में त्रुटित स्थान रिक्त हैं या फिर अनेकत्र विकल्पात्मक पाठों से पूरित हैं-ऐसी जटिल या दुरूह स्थिति में भी इस महत्त्वपूर्ण अलङ्कारशास्त्रीय कृति का पाठ - निर्णय के साथ एक संशोधित संस्करण बहुत अपेक्षित है। अतएव मेरा यह प्रयास है।

प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने में मैंने वेंकटराम शर्मा के मुद्रित संस्करण का ही उपयोग किया है। किन्तु एक सौ अट्ठावन (158) संदर्भों में पाठ-सम्बन्धी भ्रान्तियों के निराकरण का भी प्रयत्न किया है। वेंकटराम शर्मा के उपर्युक्त इक्कीस संशोधित-संदर्भों में से चौदह संदर्भों को मैंने स्वीकार किया है, सात

संदर्भों को मूल-पाठ से ही ग्रहण किया है। पांच स्थानों पर जो प्रश्नचिह्न लगाकर विकल्पात्मक पाठों का प्रयोग किया गया है वहाँ संगत व उपयुक्त पाठों का चयन किया है। उक्त विवरण निम्न प्रकार है--

(i) **चौदह** स्वीकृत संदर्भ 1-8, 12, 13, 16, 19-21 हैं, शेष **सात** संदर्भ मूल से गृहीत हैं।

(ii) **पांच** विकल्प-संदर्भों में से गृहीत इस प्रकार हैं-'(कृतीन् ? कवीन्)' में से 'कवीन्', 1.4; 'यद्य?' = 'यद्यथ', 1.44; 'विना? न्तरेण' में से 'अर्थान्तरेण', 2.23; 'स्मृतिहेतुत्वयोषं (?) तु' = 'स्मृतिहेतुत्वेऽपि', 2.46; तथा 'ज्ञेयोऽप्य॰॰ (रीतद्योन्यथा?)'='ज्ञेयो व्यभिचारी ततोऽन्यथा', 5.3.

दो स्थानों पर जो पाठ मूल में नहीं हैं, वे दिए हैं, जैसे-'तत्र कालविरुद्धं तद् यत्राकालेन यद् भवेत्', 1.42ब; तथा 'लोकातीत इवार्थो यः सोऽतिमात्र इहेष्यते।। वार्तादौ तेन तुष्यन्ति विदग्धानेतरे जनाः।', 2.78ब-79अ।

अट्ठाईस स्थानों पर मूल-पाठ से पाठभेद प्रस्तुत किए हैं, यथा- 'यदप्रयोजनं' के स्थान पर 'यदप्रयोजकं', 1.32अ; 'उक्ताभिन्नार्थमेकार्थं' के स्थान पर 'उक्त्य-भिन्नार्थमेकार्थं', 1.32ब;

'निर्दिष्टस्यापि'='निर्दोषस्यापि', 2.1अ; 'प्रसिद्धार्थपदन्यासात्'='प्रसिद्धार्थपदन्यासः', 2.7ब; 'सपिधानसुसूत्रत्वं' = 'संविधानसुसूत्रत्वं', 2.24ब; 'क्रोधादवाप्य तीव्रत्वं'= 'क्रोधादावप्यतीव्रत्वं', 2.26.अ; 'अश्लीलमपि'='असभ्यमपि', 2.47ब; 'अमङ्गल-स्मृतेर्हेतुर्गुणो सभ्यस्मृतिर्यथा' = 'अमङ्गलस्मृतेर्हेतुर्गुणोऽसभ्यस्मृतिर्यथा', 2.49अ; 'च पाशमाबद्धमन्तराले' = 'पलाशमाबद्धमन्तराले', 2.51ब; 'विचक्ष्यामित्य-सन्धानं'='विवक्षामीत्यसन्धानं' , 2.54ब; 'कश्चित् विवक्षते'='कश्चिद् विवक्ष्यते', 2.55ब; 'पुनरुक्तेऽपि'='पुरुक्तोऽपि', 2.56अ; 'देश'='दोष', 2.58ब; 'कृतिभिरुपमानं'='कृतिभिरुपमासु', 2.65अ; 'अथेदमपि'='सोऽपक्रमोऽपि', 2.77ब;

'या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषयुक्ता स्त्रीसंयुता या बहुगीतनृत्ता'='या श्लक्ष्णनेपथ्य-विशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता', 3.27अ; 'प्रस्तावपात्रप्लुतलंघितानि'= 'प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि', 3.29अ; 'भरतप्रयोज्या'='पुरुषप्रयोज्या', 3.32अ; 'सुनामधेयैर्भरतैः प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत् तु वृत्तिः'='स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः', 3.32ब; 'त्यागेन'='न्यायेन' और

'सम्भृतचित्तभावा' ='संहृतशोकभावा', 3.34; 'अन्योक्तिनामनुकृति:'= 'अन्योक्तीनामनुकृति:', 3.43अ; 'वेटोक्ति'='पोटोक्ति', 3.44अ; 'उप्तरूप:'='गुप्तरूप:', 3.65अ; 'पद्यबन्धेन'='पद्यबन्धे न', 3.87अ; 'सचित्रा'='विचित्रा', 3.87ब; 'पिशाचाद्या:' = 'पिशाचाद्या', 3.91.अ;

'जातीन्प्रचक्षते'='जातिं प्रचक्षते', 4.6अ; 'जहामोनर्मास'='जायमानमियं', 4.7अ; 'रस' = 'सार', 4.17ब; 'प्रत्यभिज्ञानमप्याहुर्नार्थान्तरत:' = 'प्रत्यभिज्ञानमप्याहुर्न चार्थान्तरत:', 4.41ब; 'प्रतीक्ष्यं'='प्रतीक्ष्य', 4.60अ; 'विभ्रमस्कन्ध'= 'विक्रमस्कन्ध', 4.68अ;

'स्थायी च, व्यभिचारी च भावो द्विविध उच्यते'= 'व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यै: स्थायीभावो 'स्मृतीच्छाद्वेषयत्नानामन्तस्सन्तान', 5.7अ; 'जन्मातिशयसम्पर्कानुमानिह। विभावश्चात्र भावश्च व्यभिचारी च कुर्वते।। = 'जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिह। विभावश्चानुभावश्च व्यभिचारीव पूर्यते।।', 5.8; 'सम्पर्कस्तुल्यतातुल्यबलभावान्तरोदये। अनुगामित्वमन्येन स्थायिनोऽपह्नवे सति।।= 'सम्पर्कस्तुल्यकालादिबलभावान्तरोदये। अनुगामित्वमन्येन स्थायिनोपद्रवे सति', 5.10.

मूल में **एक सौ दो** (102) त्रुटित अथवा रिक्त स्थानों की पूर्ति की है, जो इस प्रकार है-'दो॰॰षमिति'='देश्यं ग्राम्यमिति', 1.3ब; 'प्र॰॰च्चार्यवर्णस्तु'= 'प्रयासोच्चार्यवर्णस्तु', 1.5अ; 'तच्च॰॰दनर्थकम्'='तच्च भवेदनर्थकम्', 1.6अ; 'शास्त्रस॰॰युक्तं'='शास्त्र एव प्रयुक्तं', 1.7ब; 'देश्य॰थवा'=देश्यमथवा', 1.10अ; 'त्रिविधा॰॰॰भवेत्'=त्रिविधा त्रिविधा भवेत्', 1.11अ; '॰॰श्शब्दार्थयो:'= 'ओजश्शब्दार्थयो', 1.27अ; 'जात्याद्युक्ता॰॰॰ढं'='जात्याद्युक्तावनिर्व्यूढं', 1.34अ; '॰॰॰ललोकविरोधकृत्'=देशकाललोकविरोधकृत्', 1.40अ', 'यत्र॰॰न'='यत्राभावेन', 1.42अ; 'नो॰॰'='नोच्यते', 1.44अ;

'शास्त्रार्थ॰॰लालोक:'='शब्दार्थजकलालोक:', 2.1ब; '॰॰गुणोद्देशो', 'उक्तो गुणोद्देशो', 2.6ब; 'द्वितीयतुल्या॰॰नां'= 'द्वितीयतुल्यवर्णानां', 2.10अ; 'नै॰॰क्वचिदिष्यते'='नैकत्र क्वचिदिष्यते', 2.11अ; 'चित्र॰॰धनात्'='चित्रवर्णधनात्', 2.12अ; 'बन्धस्यो॰॰॰'='बन्धस्योज्ज्वलता', 2.15ब; 'व्यास॰॰च'='व्यास एव च', 2.17ब; 'सं॰॰॰ज:'= संकल्प ओज:', 2.29अ; 'तथा॰॰॰॰'='तथानुकरणे', 2.37ब;

'प्राय॰॰वेष्टं' = 'प्रायो गुणायेष्टं', 2.42ब; '॰॰॰लक्षितं' ='संवीतं लक्षितं', 2.44अ; 'शिवलिङ्गादिश॰॰॰स्या सम्यक्त्वभावना'='शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना', 2.45अ; 'दो॰॰मङ्गलं'='दोषो योऽमङ्गलं', 2.48ब; 'घृ॰॰॰'='घृणाकरम्', 2.49ब; '॰॰वशविशेषाच्च'='सन्निवेशविशेषाच्च', 2.51अ; 'प्रगृह्या॰॰॰कम्'= 'प्रगृह्यादिहेतुकम्', 2.55अ; 'संयोगादेर॰॰॰'='संयोगादेरगौरवम्', 2.57अ; 'स्वरसन्धिकृता॰॰'='स्वरसन्ध्यकृतेन च', 2.58अ; 'दोषा॰॰॰॰॰॰॰॰॰'='दोषाय वाकोवाक्यविदो विदु:', 2.60ब; '..................विदुर्बुधा:'=वाक्यान्तरसगर्भं यत्तद् गर्भितं विदुर्बुधा:', 2.61अ; '॰॰॰भिन्नलिङ्गत्वं'='यत्तन्न भिन्नलिङ्गत्वं', 2.62अ; '॰॰सर्वेण'='सर्वं सर्वेण', 2.64ब; '॰॰॰स्थादिभेदेन'='प्रकृतिस्थादिभेदेन', 2.68अ; 'हास्यादा॰॰त्पन्नमपीष्यते'='हास्यादावव्युत्पन्नमपीष्यते', 2.71ब; 'सम्भा॰मेवैतद्'= सम्भाव्यमेवैतद्', 2.79ब; 'न दो॰॰॰(दृ)शोपम्यातिरेकोपमादिषु'='न दोषोऽसदृशोपमं व्यतिरेकोपमादिषु', 2.83अ; 'यत्रो॰॰पमादिषु'= 'यत्रोऽसिद्धोपमादिषु', 2.84अ; 'महाकविपथा॰॰॰श्लीलमपि'='महाकविपथा दोषमश्लीलमपि', 2.85ब; 'क्वाप्यौचित्यविरोधो॰॰॰वस्थान्तरा'='क्वाप्यौचित्यविरोधो न दोषोऽवथान्तरा', 2.88अ; '॰॰॰यो'='विघ्नादयो', 2.91अ; 'न दो॰॰॰पेक्षया'='न दोषो गुणापेक्षया', 2.92अ;

'न्यस्ताशेषगुण॰॰'='न्यस्ताशेषगुणस्य च', 3.1अ; '॰॰काव्यशरीरस्य'='काले काव्यशरीरस्य', 3.1ब; '॰॰॰सुन्दरस्यापि'= 'निसर्गसुन्दरस्यापि', 3.2ब; 'उक्तालङ्कारव॰॰'='उक्तालङ्कारवपुश:', 3.3ब; 'ह॰॰॰॰न:'='हरत्येव मन:', 3.4ब; 'वस्त्रह॰॰॰दय:'='वस्त्रहारपुष्पादय:',3.6ब; 'नखोल्लेखालका॰॰'='नखोल्लेखालकादय:', 3.7ब; 'तस्या॰'='तस्या हि', 3.15ब; 'समस्त॰॰॰॰र्णा'='समस्तरीतिव्यामिश्रा', 3. 22अ; 'कामोपभोगप्रभ॰॰॰र'='कामोपभोगप्रभवोपचारा', 3.27ब; 'तु॰॰वस्याङ्गमङ्गीकुर्वन्ति'='तु वरिवस्याङ्गमङ्गीकुर्वन्ति', 3.28ब; '॰॰॰नियुद्धानि'='चित्राणि नियुद्धानि', 3.29ब; 'महापुरुष॰॰ज्या'= 'महापुरुषप्रयोज्या', 3.30ब; '॰॰॰दर्शिता'= 'भारती दर्शिता', 3.31ब; 'वृत्तिर्मो॰॰गारशालिनाम्'='वृत्तिर्मोदनोद्गारशालिनाम्', 3.33ब; 'चे॰॰लङ्कारतयैव'='चेत्तदलङ्कारतयैव', 3.38ब; '॰॰॰॰त्तु'='एकरूपात्तु', 3. 61अ; 'व्यपेताख्यमव्यपे॰॰॰तकम्'='व्यपेताख्यमव्यपेतव्यपेतकम्', 3.62अ; '॰॰भ्यासभवं'='अर्द्धाभ्यासभवं', 3.63ब; 'कामचारो॰॰॰॰'='कामचारो बहुविध:', 3.70अ; '॰॰॰पुन:'= 'न काव्ये पुन:', 3.79ब; 'प्रश्नोत्तरनाम्ना॰॰गोष्ठीविनोदो न

तज्ञैराकीर्णमन्त्रणे' = 'प्रश्नोत्तरं तु नाम्नैव सुगोष्ठीविनोदकर:। क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे', 3.82अ; 'ना॰॰तेषु'='नाभिजातेषु', 3.90ब; 'स्वेन॰॰॰गूर्जरा:'= 'स्वेन नान्येन गुर्जरा:', 3.94ब; 'गौप: पठतु वा गाथां ॰॰॰स्त सरस्वती'='गौड: पठतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती', 3.95ब; 'पुनर्नै॰॰॰ति सम्यक्'='पुनर्नैतद् भवति सम्यक्', 3.97अ; 'त॰॰॰भिधानम्'='तद्वदेवाभिधानम्', 3.97ब;

'सचेतनमनो॰॰'='सचेतनमनोहरा:', 4.1ब; 'रूपाणि॰॰॰'='रूपाणि वस्तुन:', 4.5ब; 'भेदमि॰॰'='भेदमियता', 4.6ब; 'स्वरूपमाश्रये हेतुमिति त॰दहेतव:'= 'स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतव:', 4.7ब; 'चा॰'='चात्र', 4.8ब; 'बालवृद्धवि॰॰स्त्रीहीनजात्यादिराश्रय:'=बालवृद्धविदग्धास्त्रीहीनजात्यादिराश्रय:', 4.9ब; 'देशकालकलाशक्ति॰॰नानि'='देशकालकलाशक्तिसाधनानि', 4.10ब; '॰॰ताकारलक्ष्योऽर्थ: सूक्ष्म: सूक्ष्मगुणस्तु, स:'='इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थ: सूक्ष्म: सूक्ष्मगुणात्तु स:', 4.14ब; '॰॰॰॰॰॰हेतुस्स्याद्'='अकृतकार्यमहेतुस्स्याद्', 4.16ब; '॰॰रस्यनिरासेन'='असारस्यनिरासेन', 4.17अ; 'अ॰॰॰'='अप्रयत्नाद्', 4.18अ; 'य॰॰॰॰'='यत्र सोच्यते', 4.20अ; 'साक्ष॰॰॰ति'='साक्षात् न भवति', 4.22अ; 'पृथगुक्तं पृ॰॰॰'='पृथगुक्तां पृथग्वक्ति', 4.24अ; '॰॰पदविरोधोऽपि'= 'क्रियापदविरोधोऽपि', 4.25ब; '॰॰ ञ्च'='एव ञ्च', 4.26ब; 'कार्यकारण॰॰'= 'कार्यकारणयोरत्र', 4.33ब; 'विमिश्रा॰॰॰॰॰'='विमिश्रा काव्यसूरय:', 4.37अ; 'संशया॰॰॰'='संशयनिर्णयोस्तु', 4.39ब; 'सदशाददृष्टचित्तान्यस्म॰॰'='सदृशादृष्ट-चिन्तनादेतु जायते', 4.40ब; '॰॰प्युत्कर्षमाप्नोति'='यद्यप्युत्कर्षमाप्नोति', 4.47ब; 'अत्यन्ता॰॰॰वो'='अत्यन्ताभावाभावो', 4.49अ; 'नानासम॰॰दनदुर्भणस्तस्य'= 'नानासमप्रभेदेन दुर्भणस्तस्य', 4.52अ; 'चेदमिद॰॰॰सम्मतम्'=चेदमिदमेन्द्रस्य सम्मतम्', 4.58अ; 'कृतायें॰॰धेरपि'='कृतायेत्युपधेरपि', 4.59अ; '॰॰॰ते'= 'सम्पद्यते', 4.70अ; '॰॰पि'='तथापि', 4.71अ; 'कार्यान्त॰॰कम्'= 'कार्यान्तरार्थकम्', 4.74ब; 'तत्रा॰॰प्रतिघात'='तत्रानाथप्रतिघात', 4.76अ; '॰॰मेव'='एवमेव', 4.78अ; 'स्त्री॰॰॰यत्र'='स्त्रीपुंसयोर्यत्र', 4.82अ; 'वात्स्यायना॰॰'='वात्स्यायनो वक्ति', 4.83अ; 'धीरैनिसर्गचातु॰॰तुरास्यप्रकीर्तित:'= 'धीरैर्निसर्गचातुर्येर्ष्यातुरास्य प्रकीर्तित:', 4.88अ; 'श्लोकमात्रे॰॰त्रं'='श्लोकमात्रे शास्त्रं', 4.89अ.

'एकोऽनुभव॰॰रे' = 'एकोऽनुभवसंस्कारे', 5.5ब; 'भावोत्थ॰नवव्यभिचारिभि:' = 'भावोऽत्र सहैव व्यभिचारिभि:', 5.6ब; 'अनुबन्धोऽनुभावेभ्यो प्रक॰॰॰॰यते'= 'अनुबन्धोऽनुभावादेरनुबन्ध: स कथ्यते', 5.9ब; 'जन्मानुबन्धातिशया॰॰॰॰॰॰॰धा-नुगमात्'='जन्मानुबन्धातिशयानुषङ्गात्तत: परं सानुगमान् क्रमेण', 5.11अ; 'काम॰॰॰माङ्कुर:'='कामकल्पद्रुमाङ्कुर:'; 5.12अ; 'निसर्गसंसर्गसुखै: प्रभेदै:, जन्मानुबन्ध॰॰॰दिभिश्च। इमं विनिश्चित्य निवेशयन्त:, कवीन्द्रभावं कवयो लभन्ते'='निसर्गसंसर्गसुखै: प्रभेदैर्जन्मानुबन्धातिशयादिभिश्च। इदं विनिश्चित्य निवेशयन्त:, कवीन्द्रभावं कवयो लभन्ते', 5.14; 'चतु॰॰॰तिरित्येते वा'=चतुर्विंशतिरित्येते भावा', 5.1अ; 'ए॰॰॰दयो'='एते रत्यादयो', 5.3अ; '॰॰॰बन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिति'='जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमादिति', 5.4अ; 'यदपि च गदितं प्रहर्ष॰॰तिरसो रतिविस्मयादिरेव। तदमिति निराकृतं प्रकृष्टाप्रकृतिभेदममी हि सर्व एव'='यदपि च गदितं प्रकर्षगामी भवति रसो रतिविस्मयादिरेव। तदपि न समञ्जसं प्रकृष्टा: प्रतिनिजभेदममी हि सर्व एव', 5.5।।

प्रस्तुत संस्करण के मूल मात्र 'रसार्णवालङ्कार' में उपर्युक्त मूल के पाठ सम्बन्धी एक सौ अट्ठावन (158) सन्दर्भ नीचे पाद-सन्दर्भ रूप से निर्दिष्ट हैं और ऊपर मेरे द्वारा प्रस्तुत पाठ-निर्णय है। काव्यशास्त्रीय अनेक ग्रन्थों के आलोडन के पश्चात् मैंने उन्हीं पाठों को रखा है, जो अर्थ की दृष्टि से मुझे अधिक सन्तोषजनक प्रतीत हुए हैं। मैंने 'रसार्णवालङ्कार' का मात्र अनुवाद नहीं किया है, अपितु विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। पहले मूल का अनुवाद दिया है, तदुपरान्त व्याख्या दी है। व्याख्या में विषय के स्पष्टीकरण के लिए मैंने भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से यथास्थान उद्धरण उद्धृत किए हैं। जहाँ-तहाँ आवश्यकतानुसार अन्य काव्यशास्त्रियों के साथ प्रकाशवर्ष की समता व विषमता पर भी प्रकाश डाला है। अतएव इसको हिन्दीभाष्यानुवाद कहा जा सकता है।

भूमिका में 'प्रकाशवर्ष' के समय-निर्धारण हेतु कुछ विस्तार से विचार किया है, जिससे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में एतद्विषयक प्रचुर सामग्री एकत्रित हो गई है। यहीं प्रकाशवर्ष की दोष, गुण, अलंकार और रस-सम्बन्धी मान्यताओं का समालोचनात्मक विवेचन किया है। कई स्थलों पर पण्डित वेंकटराम शर्मा और सुशील कुमार डे से मेरा मतभेद रहा है, जिसको मैंने सोपपत्तिक उपस्थित किया है। उन स्थलों पर विद्वानों की प्रतिक्रिया का मैं स्वागत करूँगा।

ग्रन्थ के अन्त में मैंने क्रमश: कारिकार्धानुक्रमणी, व्याख्योद्धृत-उद्धरणानुक्रमणी, विशिष्टपदानुक्रमणी, ग्रन्थोद्धृताचार्य-नामानुक्रमणी तथा सहायकग्रन्थसूची दी है।

यहाँ मेरा निवेदन यह है कि अब यह संस्करण बहुत-कुछ सुपाठ्य हो गया है। इसका अर्थ यह बिल्कुल नही है कि प्रस्तुत संस्करण सर्वथा त्रुटिमुक्त हो गया है। अतएव मेरी विद्वान्-पाठकों से प्रार्थना है कि वे मुझे मेरी त्रुटियों के लिए क्षमा करें और त्रुटियों से अवगत कराकर अनुगृहीत करें। मैं एतदर्थ उनका आभारी रहूँगा।

प्रस्तुत संस्करण भगवत्कृपा, गुरुकृपा और पितृकृपा का ही परिणाम है। अकस्मात्, सहज में ही प्रस्तुत हुआ यह ग्रन्थ मां सरस्वती का विशेष अनुग्रह है, कहा भी है-

'श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्'।

भगवदनुग्रह गुरुकृपाधीन होता है, अतएव मैं अपने पूज्यपाद गुरुदेव-संस्कृतजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान्, सर्वशास्त्रनिष्णात, योगी व भक्त महाकवि प्रोफेसर रसिक विहारी जी जोशी, मेक्सिको-के श्रीचरणों में सविनय, सादर बार-बार प्रणाम करता हूँ ; उनकी कृपा से ही वाक्-कृपा हुई है, उन्होंने अनेकों ग्रन्थियों का समाधान दे-देकर मुझ पर अनिश व अहेतु कृपा की है। पुत्र पर पितृकृपा वत्सलयमयी होती है, पुत्र पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण से कदापि उऋण नहीं हो सकता, इसीलिए मैं क्षण-क्षण अपने पिताश्री स्वर्गीय श्री हरिचरण दास जी अग्रवाल को स्मरण करता हुआ उनके श्रीचरणों में सादर, सविनय पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझ पर ऐसी ही कृपा बनाए रखें।

पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा के 'रसार्णवालङ्कार' तथा सुशील कुमार डे के तत्सम्बन्धी 'लेख' से मुझको पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। मैं इन विद्वान्-द्वय के प्रति अपना सम्मान और कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रणयन में मुझको डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र द्वारा प्रणीत 'रत्नदर्पण'- व्याख्या-संवलित- 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्रचुर सहायता मिली है, एतदर्थ उनका मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

इस संस्करण को प्रकाशित करने के लिए चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली ने सभी उपकरण प्रदान कर इसके प्रकाशन को सुगम किया है। इस संस्थान के व्यवस्थापक सेठ वल्लभदास जी गुप्त के दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ उनको अनेकशः शुभकामनाओं के साथ भूरि-भूरि धन्यवाद प्रदान करता हूँ। इसी संस्थान के कनिष्ठ-व्यवस्थापक प्रिय नीरज गुप्ता को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने मुझको समय-समय पर ग्रन्थ पूर्ण करने के लिए स्मरण दिला-दिलाकर मेरा उत्साहवर्धन किया है। ग्रन्थ के मुद्रण तथा साजसज्जा आदि में डीलक्स ऑफसेट प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री अनिल जी सचदेवा ने मेरी खूब सहायता की है, इसके लिए मैं उनको भी धन्यवाद देता हूँ।

इस संस्करण से यदि मैं 'प्रकाशवर्ष' की बात कुछ अंश में भी विद्वान्-पाठकों

तक पहुँचाने में समर्थ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक मानूंगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि ग्रन्थ में कुछ भी गुण का अंश है तो वह पूज्यपाद गुरुदेव के श्री चरणों में सुनी हुई ज्ञानराशि का लेशमात्र है और जो दोष तथा स्खलन हैं वे मेरी अपनी मन्दमति के कारण हैं। मधुसूदन सरस्वती ने जैसा कहा है-

यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद् गुरोरेव मे नहि।

यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव गुरोर्नहि।। *सिद्धान्तबिन्दु।।*

मदन मोहन अग्रवाल

गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2061
2.7.2004
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

विषयानुक्रमणी

1
प्रथम परिच्छेद
दोषप्रमोष — 39-97

2
द्वितीय परिच्छेद

3
तृतीय परिच्छेद

4
चतुर्थ परिच्छेद
अर्थालङ्कार निर्णय 249-322

5
पञ्चम परिच्छेद
रतिप्रपञ्च और शृंगारव्यक्ति 323-327

श्रीः

भूमिका

श्रीगुरुः शरणम्

प्रकाशवर्ष

जन्मस्थान, जीवनवृत्त एवं समय– प्रकाशवर्ष ने अपने ग्रन्थ 'रसार्णवालङ्कार' में अपने जन्मस्थान, परिवार, शिक्षा-दीक्षा गुरु आदि के विषय में कोई भी संकेत नहीं दिया है, अतएव उनका निश्चित और विश्वस्त जीवनपरिचय देना बहुत कठिन है। अपितु उनके सम्बन्ध में एक लम्बी प्रश्नसूची और उपस्थित हो जाती है, कारण कि प्रकाशवर्ष के नाम से अनेक संदर्भ जो प्राप्त होते हैं। जैसे-

(i) कैटेलॉगस कैटेलोगॉरम के अनुसार प्रकाशवर्ष एक काश्मीरी कवि हैं। उनके पिता का नाम 'हर्ष' है और उनके पुत्र का नाम 'दर्शनीय' है जो कि कवि हैं।

(ii) कैटेलॉगस कैटेलॉगॉरम में यह भी उल्लिखित है कि प्रकाशवर्ष ने भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य पर टीका लिखी है।[1]

(iii) वल्लभदेव ने अपनी 'सुभाषितावली' में प्रकाशवर्ष के नाम से नमस्कार(1), सज्जन(2), दुर्जन(6), कदर्य(1), उदार (1), गज (1), वृक्ष (1), मेघ (1), समुद्र (2), मणि (1), पद्म (1), संकीर्ण (2), हास्य (1), नीति (4), और दैव (2) सम्बन्धी विविध विषयों पर सत्ताईस (27) पद्यों को उद्धृत किया है जिनकी 'सुभाषितावली' में क्रमशः संख्या इस प्रकार है-4; 248, 274; 326, 417, 418, 419, 428, 459; 484; 522; 624; 797; 834; 860, 867; 899; 920; 959, 981; 2335; 2876, 2877, 2878, 2879; 3119 और 3135।[2]

वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में ही प्रकाशवर्ष के पुत्र 'दर्शनीय' के नाम से भी सखीवाच्यता और चाटुता सम्बन्धी दो (1171, 1172)-दो (2504, 2505) पद्य दिए हैं।

(iv) 'सुभाषित-रत्न-भाण्डागार' में भी प्रकाशवर्ष के बारह (12) पद्य उद्धृत किए गए हैं जिनकी सुभाषितावली के अनुसार संख्या इस प्रकार है-4; 248, 274; 326, 417, 418, 428; 484; 522; 834; 867 और 920।[3]

---

1. *कैटेलॉगस कैटेलोगॉरम*, भाग 1, पृष्ठ 347.
2. *सुभाषितावली*, वल्लभदेव, (सं.) पीटर पीटर्सन और पण्डित दुर्गा प्रसाद (प्रथम संस्करण 1886) तथा रघुनाथ दामोदर करमकर (द्वितीय संस्करण), बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज नं.XXXI, पूना, 1961.
3. *सुभाषित-रत्न-भाण्डागारम्*, (सं.) नारायण राम आचार्य 'काव्यतीर्थ', निर्णयसागर प्रेस. बम्बई, अष्टम संस्करण 1952, पुनर्मुद्रित संस्करण 2002-द्वारा चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,

(v) 'शार्ङ्गधरपद्धति' में भी प्रकाशवर्ष के उपर्युक्त 484; 834; और 920 संख्यक तीन (3) पद्यों को उद्धृत किया गया है।[4]

(vi) 'शिशुपालवध' के टीकाकार वल्लभदेव ने चतुर्थ सर्ग के पचपनवें श्लोक पर अपनी टिप्पणी देते हुए कहा है कि 'इस श्लोक की व्याख्या मैंने 'प्रकाशवर्ष' से अर्थ-श्रवण के पश्चात् की है', द्रष्टव्य है-

"श्रुत्वा प्रकाशवर्षात्तु व्याख्यातं तावदीदृशम्।
विशेषतस्तु नैवास्ति बोधोऽत्रानुभवादृते।।"[5]

उपर्युक्त सभी संदर्भों के परीक्षण के उपरान्त सहज में ही प्रकाशवर्ष-सम्बन्धी एक प्रश्नावली उद्भूत होती है कि-

(1) प्रकाशवर्ष दो हैं या एक?
(2) यदि दो हैं तो कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती?
(3) यदि एक हैं तो क्या उपर्युक्त अथवा उद्धृत कवि प्रकाशवर्ष ही अलंकारशास्त्री हैं?

प्रथम-द्वितीय-पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा के अनुसार प्रकाशवर्ष दो हैं-एक अलंकारशास्त्री हैं, तो दूसरे कवि हैं। उनके मत में अलंकारशास्त्री प्रकाशवर्ष पूर्ववर्ती हैं और कवि प्रकाशवर्ष परवर्ती हैं। उनका विशेष आग्रह है कि कवि प्रकाशवर्ष तो 'शिशुपालवध' के टीकाकार वल्लभदेव के समकालीन अर्थात् दशवीं या चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के हैं,[6] किन्तु अलङ्कारशास्त्री प्रकाशवर्ष तो भामह और दण्डी के भी पूर्ववर्ती हैं[7]। अपने मन्तव्य के समर्थन में वेंकटराम शर्मा मूल-ग्रन्थों से संदर्भों या पंक्तियों को उद्धृत करते हुए अनेक प्रमाणस्वरूप स्थलों को प्रस्तुत करते हैं और स्थापना करते हैं कि भामह और दण्डी ने प्रकाशवर्ष के रसार्णवालङ्कार से कहीं तो बिना परिवर्तन के ही कारिकाओं को ग्रहण कर लिया है, कहीं-कहीं थोड़े परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है। जैसे-

---

दिल्ली। द्रष्टव्य-4.32; 48.146, 50.212; 59.220, 58.188, 58.189, 59.216; 72.36; 70.30; 212.23; 216.20; और 243.207.

4. *शार्ङ्गधरपद्धतिः*, (सं.) पीटर पीटर्सन, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915, पुनर्मुद्रित संस्करण 1987-द्वारा चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली। द्रष्टव्य-383; 783; और 1139.

5. *शिशुपालवधम्*, माघ, वल्लभदेवविरचितया सन्देहविषौषध्याख्यया व्याख्ययोपेतम्, (सं.) मधुसूदन कौल, श्रीनगर, कश्मीर, 1941, श्लोक 4.55, पृष्ठ 147।

6. 'प्रकाशवर्ष एण्ड हिज़ रसार्णवालङ्कार', *रसार्णवालङ्कारः*-प्रकाशवर्षविरचितः, (सं.) पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा, *इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वॉर्टर्लि*, वॉल्यूम-V, 1929, पृष्ठ iv.

7. उपरिवत्, पृष्ठ iv-x.

(क) बिना परिवर्तन के ही गृहीत सन्दर्भः-

प्रकाशवर्ष और भामह

(1) समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं प्रचक्षते।। *रसार्णवालङ्कार*, 1.31; *काव्यालङ्कार* 4.8।

(2) क्वचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।।
सन्निवेशविशेषाच्च दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। *रसार्णवालङ्कार*, 2.50-51;
काव्यालङ्कार, 1.55-54 ।

(3) सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते।।
अखण्डमण्डलः क्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति।
यत्किञ्चत्कान्तिसाम्यात्तु शशिनैवोपमीयते।। *रसार्णवालङ्कार*, 2.65-66;
काव्यालङ्कार, 2.43-44 ।

प्रकाशवर्ष और दण्डी

(1) समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं प्रचक्षते।। *रसार्णवालङ्कार*, 1.31;
काव्यादर्श, 3.128 ।

(2) ओजस्समासभूयस्त्वम्। *रसार्णवालङ्कार*, 2.17अ; काव्यादर्श,1.80 ।

(3) न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद् विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्।।
अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्कृतिः।। रसार्णवालङ्कार, 3.54अ-56अ;
काव्यादर्श, 3.159; 3.137

(4) यत्रोद्वेगो न धीमताम्। रसार्णवालङ्कार, 2.62; काव्यादर्श, 2.51

(5) अस्ति काचिदवस्था सा या सरागस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती।। रसार्णवालङ्कार, 2.88;
काव्यादर्श, 3.133

(6) इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।। रसार्णवालङ्कार, 3.67-68;
काव्यादर्श, 1.3-4

(7) क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः।। रसार्णवालङ्कार, 3.82;
काव्यादर्श, 3.97

(ख) किंचित् परिवर्तन के साथ गृहीत संदर्भ-

प्रकाशवर्ष और भामह

(1) उक्त्यभिन्नार्थमेकार्थं व्याहरन्ति विशारदाः। रसार्णवालङ्कार, 1.32ब

यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते। काव्यालङ्कार, 4.12

(2) अपक्रमं तु तद् यत्र पौर्वापर्यविपर्ययः। रसार्णवालङ्कार, 1.33ब

यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः।
तदपेतं विपर्यासादित्याख्यातमपक्रमम्।। काव्यालङ्कार, 4.20

(3) प्रसिद्धार्थपदन्यासः प्रसाद इति कीर्तितः। रसार्णवालङ्कार, 2.7

आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्। काव्यालङ्कार, 2.3

(4) ज्ञेयोऽलङ्कारयोगोऽयं कामिनीवपुशो यथा।
निसर्गसुन्दरस्यापि प्रकर्षाधायको ध्रुवम्।। रसार्णवालङ्कार, 3.2

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्। काव्यालङ्कार, 1.13

(5) विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
विना च श्लेषचित्राभ्यां कीदृशी वाग्विदग्धता।। रसार्णवालङ्कार, 3.80ब-81अ

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता।। काव्यालङ्कार, 1.4

प्रकाशवर्ष और दण्डी

(1) उक्त्यभिन्नार्थमेकार्थं व्याहरन्ति विशारदाः। रसार्णवालङ्कार, 1.32

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा।। काव्यादर्श, 3.135

(2) लोकातीत इवार्थो यः सोऽतिमात्र इहेष्यते। रसार्णवालङ्कार, 1.34ब

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः।। काव्यादर्श, 1.89

(3) न हि कुष्ठादिभिर्दोषै रहितं कामिनीवपुः।
नृत्तगीतादिचातुर्यगुणान् नाद्रियते क्वचित्।। रसार्णवालङ्कार, 2.2

स्याद वपुस्सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्। काव्यादर्श, 1.7

(4) प्रसिद्धार्थपदन्यासः प्रसाद इति कीर्तितः। रसार्णवालङ्कार, 2.7

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्। काव्यादर्श, 1.45

(5) बन्धो मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णजन्मा न सङ्करः।
भजते यत्र सांद्भेदं तत् समत्वमुदीर्यते।। रसार्णवालङ्कार, 2.8

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः।। काव्यादर्श, 1.47

(6) अकठोराक्षरन्यासः सौकुमार्यमुदाहृतम्। रसार्णवालङ्कार, 2-9

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। काव्यादर्श, 1.69

(7) रूढाहङ्कारतौर्जित्यम्। रसार्णवालङ्कार, 2.29ब

ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्। काव्यादर्श, 2.275

(8) यत्नः सम्बन्धनिर्ज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि।
क्रमभ्रंशमपि प्राहुर्न दोषं सूरयस्तदा।। रसार्णवालङ्कार, 2.53ब-54अ

यत्नः सम्बन्धाविज्ञानहेतुकोऽपि कृतो यदि।
क्रमलङ्घनमत्याहुः सूरयो नैव दूषणम्।। काव्यादर्श, 3.146

(9) सुकुमारार्थबन्धेषु गौडैशशिथिलमिष्यते।
अनुप्रासधिया ते हि बन्धवैदग्ध्यनिस्पृहाः।। रसार्णवालङ्कार, 2.67

शिथिलं...।
अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्।। काव्यादर्श, 1.43ब-44अ

(10) मत्तोन्मत्तादिवाक्येषु नापार्थमपि दुष्यति। रसार्णवालङ्कार, 2.74ब

उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति। काव्यादर्श, 3.128ब

(11) संशयायैव सन्दिग्धं यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोष इति मे मतिः।। रसार्णवालङ्कार, 2.76ब-77अ

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा।। काव्यादर्श, 3.141

(12) कान्तं भवति सर्वस्य लोकसीमानुवर्त्तिनः। रसार्णवालङ्कार, 2.80अ

कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्त्तिनः। काव्यादर्श, 1.88ब

(13) उच्यते रीतयस्तत्र तथापि प्रस्फुटान्तराः। रसार्णवालङ्कार, 3.17अ

तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।। काव्यादर्श, 1.40ब

(14) प्रवृत्तेर्वा निवृत्तेर्वा यत्कार्यं स्यान्निबन्धनम्।
तत्रास्य हेतुरित्याख्या षट्प्रकारः स कथ्यते।।
एकः प्रवर्तको हेतुरन्यः कार्ये निवर्त्तकः।
अभावहेतुरपरो ज्ञापकोऽन्यः प्रयोजकः।।
अन्यो बहुप्रपञ्चस्तु चित्रहेतुरिति स्मृतः।
क्वापि पत्रवशावन्ध्यः क्वाप्यर्थान्तरबाधितः।। रसार्णवालङ्कार, 4.11ब-14अ

कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा।
....।
अलङ्कारतयोद्दिष्टं निवृत्तावपि तत्समम्।
....।
निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया।
प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता।।
हेतुर्निर्वर्त्तनीयस्य दर्शितः....................।
..............................रम्या ज्ञापकहेतवः।
अभावहेतवः केचिद् व्याह्रियन्ते मनोहराः।
प्रागभावादिरूपस्य हेतुत्वमिह वस्तुनः।
भावाभावस्वरूपस्य कार्यस्योत्पादनं प्रति।।
दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यान्तरजस्तथा।। काव्यादर्श, 2.235-253

(15) सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणात्तु सः। रसार्णवालङ्कार, 4.14ब ।

सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः। काव्यादर्श, 2.260ब ।

(16) अप्रयत्नाद्प्रयत्नाद् वा कारणं सहकारि यत्।
आसाद्यते क्रियारम्भे तद् द्विधैव समाहितम्।। रसार्णवालङ्कार, 4.18 ।

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्।। काव्यादर्श, 2.298

(17) प्रसिद्धहेतुत्यागेन हेत्वन्तरविभावनम्।
स्वभावभावनं स्याद् यत्र सोच्यते विभावना।। रसार्णवालङ्कार, 4.19ब-20अ ।

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।। काव्यादर्श, 2.99 ।

इसके अतिरिक्त, वेंकटराम शर्मा की यह भी मान्यता है कि प्रकाशवर्ष ने अपने 'रसार्णवालङ्कार' में बाणभट्ट (छठी शताब्दी) को सर्वश्रेष्ठ गद्यकार कहा है-'यादृक् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'[8], - अतएव प्रकाशवर्ष बाण के परवर्त्ती हैं।

किन्तु सुशील कुमार डे[9] का कथन है कि पण्डित वी. वेंकटराम शर्मा का उपर्युक्त मत सर्वथा अनुचित है, प्रकाशवर्ष को भामह और दण्डी से जोड़ना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। कारण यह है कि 'रसार्णवालङ्कार' में दोषहान, गुणोपादन, अलंकारयोग और रसाभियोग जैसे गम्भीर विषयों के बहुश्रमसिद्ध विवेचन के अतिरिक्त ध्वनि की जो विशिष्ट स्थापना की गई है तथा उक्त विषय-सम्बन्धी परिभाषाएँ और भेदोपभेद जो उपस्थापित किए गए हैं, वे सभी दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्यों विशेष रूप से भोज के अति समीप हैं, न कि भामह और दण्डी के-जिनके चार सौ-पाँच सौ वर्षों के बाद ध्वनि-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास हुआ है।

भोजकृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण', यदा-कदा ' शृङ्गारप्रकाश' और प्रकाशवर्षप्रणीत 'रसार्णवालङ्कार'-इन दोनों ग्रंथों को सामने रखकर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुरन्त

---

8. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.87अ ।
9. "द रसार्णवालङ्कार ऑफ प्रकाशवर्ष", *सम प्रॉब्लम्स ऑव संस्कृत पोएटिक्स*, सुशील कुमार डे, फर्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1959, पृष्ठ 95-107.

किसी को भी लगेगा कि 'ये दोनों ग्रन्थ तो एक हैं, दोष-गुण-अलंकारों की परिभाषाएँ और भेदोपभेद सर्वथा समान ही हैं।' कहीं-कहीं प्रकाशवर्ष ने भोज द्वारा परिगणित गुण अथवा अलंकारों की संख्या में परिवर्धन अथवा निरसन किया है, जैसे-- भोज के चौबीस शब्द-गुणों में से गति और प्रौढि- दो का निरसन कर बाईस शब्दगुणों को स्वीकार किया है तथा भोज के चौबीस अर्थालंकारों में चार. अतिरिक्त अलंकारों की वृद्धि की है। जबकि अवितथ संयोजन और परिवर्तन करने पर भी प्रकाशवर्ष ने गुण, दोष और अलंकारों के नाम, परिभाषाएँ तथा भेदोपभेद-सभी उसी स्वरूप व क्रम में प्रायः रखे हैं जैसे कि भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में रखे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि प्रकाशवर्ष ने परिभाषाएँ व भेदोपभेद शब्दतः भोज से ग्रहण कर लिए हैं। यहाँ तक कि जो भोज की अपनी विशिष्ट परिभाषाएँ हैं या भेदोपभेद है, जो कि अन्य किसी काव्यशास्त्री ने आज तक प्रस्तुत नहीं किए हैं, उनको भी प्रकाशवर्ष ने यथावत् ग्रहण कर लिया है। इतना होने पर भी प्रकाशवर्ष को भामह या दण्डी से जोड़ना निरर्थक ही नहीं, सर्वथा असंभव है।

उक्त कथन की पुष्टि के लिए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'रसार्णवालङ्कार' के पदानुपद समान संदर्भ द्रष्टव्य हैं-

(क) दोष-प्रकरण–

	सरस्वतीकण्ठाभरण		**रसार्णवालङ्कार**
1.	**पद-दोष**- सोलह (16)	1.	**पद-दोष**- चौदह (14), किंचित् क्रम-परिवर्तन के साथ।
(i)	आसाधु=शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्।	(i)	असाधु=शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्।
(ii)	अप्रयुक्त=कविभिर्न प्रयुक्तं यत्।	(ii)	अप्रयुक्त=न प्रयुक्तं कवीन्द्रैर्यत्।
(iii)	कष्ट=पदं श्रुतेरसुखदम्।	(iii)	कष्ट=श्रवणदुर्भगम्।
(iv)	अनर्थक=पादपूरणमात्रार्थम्।	(iv)	अनर्थक=पादपूरणमात्रं यत्।
(v)	अन्यार्थ=रूढिच्युतं पदं यत्।	(v)	अस्वीकृत।
(vi)	अपुष्टार्थ=यत्तु तुच्छाभिधेयं स्यात्।	(vi)	अपुष्टार्थ=वाच्यतुच्छतया क्लिष्टम्।
(vii)	असमर्थ=असंगतं पदं यत्।	(vii)	असमर्थ=यद् बद्धं रूढिवर्त्म-व्यतिक्रमात्। अन्यार्थवत् है।
(viii)	अप्रतीत=प्रसिद्धं शास्त्र एव यत्।	(viii)	अप्रतीत=शास्त्र एव प्रयुक्तं यत्।
(ix)	क्लिष्ट=दूरं यस्यार्थसंवित्तिः।	(ix)	क्लिष्ट=पारम्पर्येण चार्थस्य सूचकम्।
(x)	गूढार्थ=अप्रसिद्धार्थ प्रयोगम्।	(x)	गूढार्थ=अप्रसिद्धार्थसम्बद्धम्।
(xi)	नेयार्थ=स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थम्।	(xi)	नेयार्थ=स्वयं कल्पितसङ्केतम्।
(xii)	संदिग्ध=न यत्पदं निश्चयकृत्।	(xii)	संशय - यत्रार्थान्तरसम्बन्धः।
(xiii)	विपरीत=विरुद्धार्थप्रकल्पनम्।	(xiii)	अस्वीकृत।
(xiv)	अप्रयोजक=अविशेषविधायकम्।	(xiv)	अप्रयोजक=विवक्षितप्रमेयस्य नोपकारि।
(xv)	देश्य=अव्युत्पत्तिमत् पदम्।	(xv)	देश्य=देशरूढिगतं पदम्।
(xvi)	ग्राम्य=अश्लील (असभ्यार्थ), अमङ्गल, और घृणावत्।	(xvi)	ग्राम्य=असभ्य, अमङ्गल, और घृणाकर।
2.	**वाक्यदोष**- सोलह (16)	2.	**वाक्यदोष**- चौदह (14), किन्तु पन्द्रह (15); किंचित् क्रम-परिवर्तन के साथ।
(i)	शब्दहीन=अपशब्दवत्।	(i)	शब्दहीन=भिन्नभाषापदाविद्धम्।
(ii)	क्रमभ्रष्ट=आर्थः शाब्दो वा यत्र न क्रमः	(ii)	क्रमभ्रष्ट=शब्दार्थ-व्युत्क्रमो यत्र।
(iii)	विसन्धि=विसंहितो विरूपो वा यस्य सन्धिः।	(iii)	विसन्धि=विरुद्धसन्धि निस्सन्धि।
(iv)	पुनरुक्तिमत्=पदं पदार्थश्चाभिन्नौ यत्र।	(iv)	पुनरुक्तिमत्=तादृक् पद-पदार्थानां निबन्धे।
(v)	व्याकीर्ण=मिथो यस्मिन्विभक्तीनाम-संगतिः।	(v)	व्याकीर्ण=अनेकपदसन्तानव्याहत-स्मृतिभिः पदैः योजना यत्र।
(vi)	संकीर्ण=वाक्यान्तरपदैर्मिश्रम्।	(vi)	संकीर्ण=वाक्यान्तरपदोन्मिश्रम्।
(vii)	अपद=विभिन्नप्रकृतिस्थादि पदयुक्ति	(vii)	अस्वीकृत।
(viii)	वाक्यगर्भित=वाक्यान्तरसगर्भं यत्।	(viii)	(वाक्य-)गर्भित=वाक्यान्तरसगर्भं यत्।
(ix)	भिन्नलिङ्ग = यत्रोपमा भिन्नलिङ्गा।	(ix)	भिन्नलिङ्ग=अलिङ्गत्वादुपमानो-पमेययोः।
(x)	भिन्नवचन=यद्भिन्नवचनोपमम्।	(x)	भिन्नवचन=यस्मिन् वचनवैषम्यमु-पमानोपमेययोः।
(xi)	न्यूनोपम=न्यूनमुपमानविशेषणैः।	(xi)	न्यूनोपम=न्यूनैरुपमाया विशेषणैः।
(xii)	अधिकोपम=अधिकं यत्पुनस्तैः स्यात्।	(xii)	अधिकोपम=विशेषणाधिकौपम्यम्।
(xiii)	भंगछन्द=यच्छन्दोभङ्गवद्वचः।	(xiii)	भिन्नवृत्त=छन्दोलक्षणहीनम्, तद्

(xiv)	भंगयति=अस्थाने विरतिर्यस्य।		वर्णयतिभेदेन द्विधा।
(xv)	अशरीर=क्रियापदविहीनं यत्।	(xiv)	खञ्ज=क्रियाविरहितं वाक्यम्।
(xvi)	अरीतिमत्=गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः। नौ भेद, समाधिविपर्यय नहीं है।	(xvi)	श्लेषादिगुणहीनम्=दस भेद, जिनमें समाधिविपर्यय है।

3.	**वाक्यार्थदोष**- सोलह (16)	3.	**वाक्यार्थदोष**- सोलह (16)
(i)	अपार्थ=समुदायार्थशून्यं यद्, वचः।	(i)	अपार्थ=समुदायार्थशून्यं यत्।
(ii)	व्यर्थ=गतार्थं यत्, यच्च स्यान्निष्प्रयोजनम्।	(ii)	व्यर्थ=यदप्रयोजकं यच्च गतार्थम्।
(iii)	एकार्थ=उक्त्यभिन्नार्थम्।	(iii)	एकार्थ=उक्त्यभिन्नार्थम्।
(iv)	ससंशय=सन्दिग्धार्थम्।	(iv)	ससंशय=यत्रार्थस्य न निश्चयः।
(v)	अपक्रम=वाक्यं यत्तु क्रमभ्रष्टम्।	(v)	अपक्रम=पौर्वापर्यविपर्ययः।
(vi)	खिन्न=जात्याद्युक्तावनिर्व्यूढम्।	(vi)	खिन्न=जात्याद्युक्तावनिर्व्यूढम्।
(vii)	अतिमात्र=यत्सर्वलोकातीतार्थम्।	(vii)	अतिमात्र=लोकातीत इवार्थो यः।
(viii)	परुष=यत्तु क्रूरार्थमत्यर्थम्।	(viii)	परुष=अतिक्रूरस्तु वाक्यार्थः।
(ix)	विरस=अप्रस्तुतरसं यत्।	(ix)	विरस=अप्राकृतरसम्।
(x)	हीनोपम=हीनं यत्रोपमानं स्यात्।	(x)	हीनोपम=हीनं यत्रोपमानं स्यात्।
(xi)	अधिकोपम=तदेव यस्मिन्नधिकम्।	(xi)	अधिकोपम=यत्रोपमानमधिकम्।
(xii)	असदृशोपम=यत्त्वतुल्योपमानम्।	(xii)	विसदृशोपमम्=अतुल्यमुपमाने चेत्।
(xiii)	अप्रसिद्धोपम=अप्रसिद्धोपमानं यत्।	(xiii)	अप्रसिद्धोपम्=अप्रसिद्धोपमानं चेत्।
(xiv)	निरलंकार=यदलंकारहीनम्।	(xiv)	निरलंकार=अलङ्कारविवर्जितम्।
(xv)	अश्लील=अश्लीलार्थप्रतीतिकृत्।	(xv)	अश्लील=यदसभ्यार्थसम्बद्धम्।
(xvi)	विरुद्ध=तीन भेद-प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध और आगमविरुद्ध। पुनश्च, देश, काल और लोक आदि से तीन-तीन भेद, अतएव नौ भेद।	(xvi)	विरुद्ध=तीन भेद-प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, और आगमविरुद्ध। पुनश्च, देश, काल और लोक आदि से तीन-तीन भेद, अतएव नौ भेद।

(ख) गुणप्रकरण–

4.	**शब्दगुण**- चौबीस (24)	4.	**शब्दगुण**- बाईस (22)
(i)	श्लेष=सुश्लिष्टपदता।	(i)	श्लेष=यत्र बन्धोऽतिसंश्लिष्टः।
(ii)	प्रसाद=प्रसिद्धार्थपदत्वम्।	(ii)	प्रसाद=प्रसिद्धार्थपदन्यासः।
(iii)	समता=यन्मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति अवैषम्येण भणनम्।	(iii)	समता=बन्धो मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णजन्मा न संकरः।
(iv)	माधुर्य=या पृथक्पदता वाक्ये।	(iv)	माधुर्य=अर्थोचितवचोबन्धः।
(v)	सुकुमारता=अनिष्ठुराक्षरप्रायम्।	(v)	सुकुमारता=अकठोराक्षरन्यासः।
(vi)	अर्थव्यक्ति=यत्र संपूर्णवाक्यत्वम्।	(vi)	अर्थव्यक्ति = सम्पूर्णवाक्यता।
(vii)	कान्ति=यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य।	(vii)	कान्ति=बन्धस्योज्ज्वलता।
(viii)	औदार्य=विकटाक्षरबन्धत्वम्।	(viii)	औदार्य=बन्धवैकट्यम्।
(ix)	उदात्तता=श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगः।	(ix)	उदात्तता=श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तम्।
(x)	ओज=समासभूयस्त्वम्।	(x)	ओज=समासभूयस्त्वम्।
(xi)	और्जित्य=गाढबन्धता।	(xi)	और्जित्य=बन्धगाढत्वम्।
(xii)	प्रेयस्=प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ।	(xii)	प्रेयस्=प्रेयार्थपदविन्यासः।
(xiii)	सुशब्दता=व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या।	(xiii)	सुब्दता=या सुबन्त-तिङन्तानां व्युत्पत्तिः।
(xiv)	समाधि=अन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्	(xiv)	समाधि=अन्यधर्मस्य भवेदन्यत्र रोपणम्।
(xv)	सौक्ष्म्य=अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानाम्	(xv)	सौक्ष्म्य=शब्दानां अन्तःसंजल्परूपता।
(xvi)	गाम्भीर्य=ध्वनिमत्ता	(xvi)	गाम्भीर्य=ध्वनिमत्ता।
(xvii)	विस्तार=व्यासेनोक्तिः।	(xvii)	विस्तार=व्यस्तम्।
(xviii)	संक्षेप=समासेनाभिधानम्।	(xviii)	संक्षेप=अभिधानं समासेन।
(xix)	सम्मितत्व=यावदर्थपदत्वम्।	(xix)	सम्मितत्व=यावदर्थपदत्वम्।
(xx)	भाविकत्व=भावतो वाक्यवृत्तिर्या।	(xx)	भाविकत्व=भावाभिव्यञ्जका वाणी।
(xxi)	गति=क्रमो यः स्यादारोहावरोहयोः।	(xxi)	अस्वीकृत।
(xxii)	रीति=उपक्रमस्य निर्वाहः।	(xxii)	रीति= उपक्रमस्य निर्वाहः।

(xxiii)	उक्ति=विशिष्टा भणितिर्या स्यात्।	(xxiii)	उक्ति=अर्थान्तरेण चार्थस्य भणनात्।
(xxiv)	प्रौढ़ि=उक्तेः प्रौढ़ः परीपाकः।	(xxiv)	अस्वीकृत।

(ग) अलङ्कार-प्रकरण–

(i) भोज ने अलंकारों को बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर-भेद से तीन प्रकार का कहा है। मम्मटादि ने अलंकारों की ऐसी त्रिविधता स्वीकार नहीं की है, यह त्रिविधता भोज की देन है। यह भी प्रकाशवर्ष ने स्वीकार की है। तुलना करें-

शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलङ्कारान्कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान्बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति।। *सरस्वतीकण्ठाभरण*, 2.1

अलङ्कारास्तु नारीणां शरीरे त्रिविधाः स्मृताः।
बाह्यास्तथान्तराः केचित् तथा बाह्यान्तरा इति।। *रसार्णवालङ्कार*, 3.5

(ii) भोज की अपनी एक विशिष्ट शैली है, उसको बनाये रखने के लिए अथवा एकरूपता बनाये रखने के लिए भोज ने शब्दालंकारों के अन्तर्गत रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या और पठिति अलंकारों को स्वीकार किया है और उन सभी के छः-छः भेद किए हैं। यह उनकी अपनी विशेषता है। ये भी प्रकाशवर्ष ने अधिकांशतः स्वीकार किए हैं। भोज की षड्विध रीतियों में से मात्र 'मागधी' छोड़कर पाँच वैदर्भी आदि रीतियाँ प्रकाशवर्ष ने स्वीकार की है-- 'वैदर्भगौडपाञ्चाल-लाटावन्तिसमाश्रयाः'[10]-- भोज ने छः वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, जबकि परम्परा में कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती-ये चार वृत्तियाँ कही गई हैं। प्रकाशवर्ष ने भोज का अनुसरण कर पाँच वृत्तियाँ स्वीकार की है[11]। भोज द्वारा आविष्कृत षड्विध 'छाया' अलंकार के 'अर्भकछाया' को छोड़कर प्रकाशवर्ष ने पञ्चविध 'छाया' अलंकार स्वीकार किया है[12]।

भोज द्वारा षट्-षड्विध विभक्त मुद्रा और भणिति अलंकारों को, जिनको भोज के पूर्ववर्त्ती किसी भी अलंकारशास्त्री ने उल्लिखित नहीं किया है, प्रकाशवर्ष ने चतुश्-चतुर्विध भेद से स्वीकार किया है[13]। किन्तु भोज की षड्विध 'युक्ति' को

10. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.17ब ।
11. उपरिवत्, 3.25 ।
12. उपरिवत्, 3.44 ।
13. उपरिवत्, 3.42; 3.48 ।

प्रकाशवर्ष ने यथावत् स्वीकार किया है[14]। जबकि प्रकाशवर्ष ने उक्ति, गुम्फना, शय्या और पठिति को तो स्वीकार ही नहीं किया है। भोज के षट्-षड्विध श्लेष, प्रश्नोत्तर और श्रव्यता को प्रकाशवर्ष ने यथावत् स्वीकार किया है[15]।

(iii) भोज ने भारतीय दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों के साथ 'उपमान' नामक प्रमाण को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है जिसको सुप्रसिद्ध उपमालंकार से पृथक् कहा है, यह उनकी अपनी नवीनता व विशेषता है, जो कि मात्र अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में प्राप्त है, अन्यत्र कहीं नहीं है। वह भी प्रकाशवर्ष ने यथावत् स्वीकार किया है[16]। इस प्रकार प्रकाशवर्ष भोज के अति समीप हैं।

(घ) रसप्रकरण–

(i) भोज ध्वनिकार आनन्दवर्धन के परवर्त्ती हैं, अतएव वे ध्वनि-सिद्धान्त से सुपरिचित थे; किन्तु उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-सिद्धान्त का समन्वय कहीं नहीं किया है, यद्यपि ध्वन्यालोक से यथास्थान कारिकाएँ उद्धृत की हैं। भोज ने ध्वनि का अन्तर्भाव 'गाम्भीर्य' नामक शब्दगुण में किया है, अतएव उनके अनुसार 'ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्'-यह 'गाम्भीर्य' का लक्षण है। यही यथावत् शब्दतः प्रकाशवर्ष ने स्वीकार किया है[17]।

(ii) 'रसार्णवालङ्कार' का रसप्रकरण अपूर्ण है, किन्तु ग्रन्थ का नाम 'रस' से ही आरम्भ होने से 'रस' ग्रन्थकार को सर्वाधिक प्रिय व अभीष्ट होना चाहिए। अतएव प्रसंग में अपूर्णांश की भी चर्चा अपेक्षित है। ध्यातव्य यह है कि इस प्रकरण में जो भी अंश प्राप्त है वह सम्पूर्ण भोज के 'श्रृङ्गारप्रकाश' से पदानुपद गृहीत है। यहाँ 'रतिप्रपञ्चः शृंगारव्यक्तिश्च'-यह जो शीर्षक है, वह 'शृंगारप्रकाश' के त्रयोदश प्रकाश 'रतिप्रकाशनप्रकाश'[18] तथा चतुर्दश प्रकाश के निष्कर्ष वाक्य 'एते रत्यादयो भावाः ' शृंगारव्यक्ति' हेतवः[19]' जैसा ही है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग यह है कि प्रकाशवर्ष ने 'शृंगारप्रकाश' के गद्यभाग को भी पद्यों में ग्रथित कर दिया है। देखें-

14. उपरिवत्, 3.45-46 ।
15. उपरिवत्, 3.50-51 ; 3.55-58 ; 3.59 ।
16. उपरिवत्, 4.91 ।
17. उपरिवत्, 2.20अ ।
18. *श्रृङ्गारप्रकाशः*, भोज, (सं.) जी.आर. जोश्यर, मैसूर, 1963, सेकिण्ड वॉल्यूम, "रतिप्रकाशनप्रकाशः", त्रयोदशप्रकाशः, पृष्ठ 547-565.
19. उपरिवत्, "हर्षादिभावपञ्चकप्रकाशनप्रकाश", चतुर्दशप्रकाशः, पृष्ठ 596.

'स्थायिनोपद्रवे सति जन्मानुबन्धातिशयानुषङ्गात्ततः परं सानुगमान् क्रमेण भावेषु तल्लक्षणलक्ष्ययोगात्पञ्चप्रपञ्चानुपवर्णयाम:।' *शृंगारप्रकाश*, त्रयोदश प्रकाश, पृष्ठ 550।

....स्थायिनोपद्रवे सति।।
जन्मानुबन्धातिशयानुषङ्गात्ततः परं सानुगमान् क्रमेण।
भावेषु तल्लक्षणलक्ष्ययोगात्, पञ्च प्रपञ्चानुपवर्णयाम:।।

रसार्णवालङ्कार, 5.10ब-11 ।

(iii) भोज ने 'रतिप्रकाशनप्रकाश' में मोक्षशृंगार, धर्मशृंगार, अर्थशृंगार और कामशृंगार-इस चतुर्विध शृंगार का तीन-चार पृष्ठों में गद्य में वर्णन करके पद्य प्रारम्भ किया है-

उक्तस्सोऽयं विभावादिभावसञ्चारिसङ्करः।
क्रमेण सर्वभावनां शृंगारेषु चतुर्ष्वपि।। *शृंगारप्रकाश*, पृष्ठ 550।

इसी पद्य से 'रसार्णवालङ्कार' का पंचम परिच्छेद प्रारम्भ है, थोड़ा-सा अन्तर है-

उक्तस्सोऽयं विभावानुभावसञ्चारिसङ्करः।
क्रमेण सर्वभावानां शृंगारेषु चतुर्ष्वपि। *रसार्णवालङ्कार*, 5.1।

प्रकाशवर्ष का यह पद्य 'उक्तस्सोऽयं' पदों से साकांक्ष है, निस्सन्देह इस पद्य से पूर्व का भाग 'रसार्णवालङ्कार' से लुप्त है।

(iv) इसके अतिरिक्त, 'रसार्णवालङ्कार' का प्राप्त शेषांश भी शृंगारप्रकाश के समान ही है। सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं-

(अ) शृंगारप्रकाश–

व्यक्तस्तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्स्मृतः।
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृंगारोऽपि द्विधा मत:।।

समवाये च उद्भूतश्चिरं यश्चावतिष्ठते।
भाव: स्थायीति स ज्ञेयो व्यभिचारी ततोऽन्यथा।।

विभावो द्विविधैवात्रालम्बनोद्दीपनात्मकः।
एकोऽनुभवसंस्कारे जनकोऽन्यस्तु स द्विधा।।

अन्तर्बहिश्च भावोऽत्र सदैव व्यभिचारिभि:।
स्मृतीच्छाद्वेषयत्नानामन्तस्सन्तान इष्यते।।

मनोवाग्बुद्धिवपुषां बहिरारम्भ एव तु।
जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिह।।
विभावश्चानुभावश्च व्यभिचारीव पूर्यते।। *त्रयोदशप्रकाश*, पृष्ठ 500

रसार्णवालङ्कार–

व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्स्मृतः।
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारोऽपि द्विधा मत:।।

समवाये च उद्भूतश्चिरं यश्चावतिष्ठते।
भाव: स्थायीति स ज्ञेयो व्यभिचारी ततोऽन्यथा।।

अभीष्टालिङ्गनादीनामवाप्तौ य: प्रकाशते।
सोऽस्मिन् संभोगशृंगारो विप्रलम्भो विपर्यये।।

विभावोऽपि द्विधैवात्रालम्बनोद्दीपनात्मक:।
एकोऽनुभवसंस्कारे जनकोऽन्यश्च बोधक:।।

ततश्च प्रबुद्धे संस्कारेऽनुभावो भवेद् द्विधा।
अन्तर्बहिश्च भावोऽत्र सहैव व्यभिचारिभि:।।

मृतीच्छाद्वेषयत्नानामन्तस्सन्तान इष्यते।
नोवाग्बुद्धिवपुषां बहिरारम्भ एव तु।।
मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिह।
वभावश्चानुभावश्च व्यभिचारीव पूर्यते।। पञ्चम परिच्छेद, 2-8।

(ब) शृंगारप्रकाश–

सैष भावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमांकुर:।
सौहृदांकुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपि दर्शित:।।
भावान्तरेभ्यस्सर्वेभ्यो रतिभाव: प्रकृष्यते।
कविवर्गस्समग्रोऽपि तमेनमनुधावति।।
निसर्गसंसर्गमुखैः प्रभेदैर्जन्मानुबन्धातिशयादिभिश्च।
इदं विनिश्चित्य निवेशयन्त: कवीन्द्रकीर्तिं कवयो लभन्ते।।

त्रयोदश प्रकाश, पृष्ठ 565

रसार्णवालङ्कार–

सैष भावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमांकुर:।

सौहृदांकुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपि दर्शित:।।

भावान्तरेभ्य: सर्वेभ्यो रतिभाव: प्रपञ्च्यते।

कविवर्ग: समग्रोऽपि तमेनमनुधावति।।

निसर्गसंसर्गमुखै: प्रभेदैर्जन्मानुबन्धातिशयादिभिश्च।

इदं विनिश्चित्य निवेशयन्त:, कवीन्द्रभावं कवयो लभन्ते।। 5.12-14।

(स) शृंगारप्रकाश–

एते रत्यादयो भावाश्शृङ्गारव्यक्तिहेतव:।

कात्स्न्यार्दिकोनपञ्चाशद्रतिभेदा: प्रकाशिता:।।

जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमादिति।

युञ्जीत सर्वभावेषु वर्गयोरुभयोरपि।।

यदपि च गदितं प्रकर्षगामी भवति रसो रतिविस्मयादिरेव।

तदपि न समञ्जसं, प्रकृष्टा: प्रतिनिजभेदममी हि सर्व एव।।

चतुर्दश प्रकाश, पृष्ठ 596

रसार्णवालङ्कार–

एते रत्यादयो भावाश्शृंगारव्यक्तिहेतव:।

कात्स्न्यार्दिकोनपञ्चाशद् यथाभेदं प्रकाशिता:।।

जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमादिति।

युञ्जीत सर्वभावेषु वर्गयोरुभयोरपि।।

यदपि च गदितं प्रकर्षगामी भवति रसो रतिविस्मयादिरेव।

तदपि न समञ्जसं प्रकृष्टा: प्रतिनिजभेदममी हि सर्व एवं।।5.3-5।।

उपर्युक्त सभी सन्दर्भों के परीक्षण के उपरान्त निष्कर्ष यह है कि-

(1) प्रकाशवर्ष भोज से अत्यन्त प्रभावित हैं, इसीलिए दोनों के ग्रन्थों में अति साम्य है। प्रकाशवर्ष का उद्देश्य भोज का नामोल्लेख किए विना भोज के काव्यसम्बन्धी, विशेषरूप से शृंगाररस-सम्बन्धी तत्त्वों का भोज की शैली में ही संक्षेप में संकलन करने का रहा है--ऐसा प्रतीत होता है। अतएव 'रसार्णवालङ्कार' को एक संक्षिप्त संकलन-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें आवश्यकतानुसार

यथास्थान भामह, दण्डी आदि के ग्रन्थों से भी संदर्भ उद्धृत हैं। भोज ने भी ऐसा अपने 'शृंगारप्रकाश' में किया है। स्पष्ट है कि प्रकाशवर्ष ने सर्वतोभावेन भोज का ही अनुसरण किया है।

(2) भोज ने काव्य को दोषहीन, गुणसमन्वित, अलंकारों से विभूषित तथा रसपेशल कहा है-

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।

रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।" सरस्वतीकण्ठाभरण, 1.2।।

अतएव प्रकाशवर्ष ने 'रसार्णवालङ्कार' को 'दोषप्रमोष' से आरम्भ कर 'गुणोपादान', 'शब्दालंकार-प्रकाशन', 'अर्थालंकारनिर्णय' का निर्णय कर 'रतिप्रपंच और शृंगारव्यक्ति' अर्थात् रसान्विति या रसाभियोग पर समाप्त किया है।

(3) प्रकाशवर्ष के दोष, गुण, अलंकार और रस-सम्बन्धी सभी विवेचन भी न्यूनाधिक रूप से भोज जैसे ही हैं, जैसा कि उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रमाणित ही है। अतएव प्रकाशवर्ष भोज के अति समीप हैं, इसीलिए इनका समय भोज के बाद अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होना चाहिए। प्रो. वी. राघवन[20] और प्रो. एस.पी. भट्टाचार्य[21] भी इस मत से सहमत हैं।

तृतीय–(i) उपर्युक्त पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष स्वरूप विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट व प्रमाणित है कि प्रकाशवर्ष भामह और दण्डी के पूर्ववर्त्ती नहीं है। सम्पूर्ण 'रसार्णवालङ्कार' में साढे तीन सौ उनचास (349.5) कारिकाएँ और दो वृत्त अर्थात् सात सौ सात (707) पंक्तियां हैं, जिनमें सर्वथा समान दस (10) संदर्भ=चौबीस (24) पंक्तियाँ तथा किंचित् समान बाईस (22) संदर्भ=छत्तीस (36) पंक्तियाँ अर्थात् सब मिलाकर साठ (60) पंक्तियाँ भामह और दण्डी से उद्धृत हैं, जबकि भोज से ग्रन्थ का दो-तिहाई भाग अवतरित है। अतएव प्रकाशवर्ष भामह और दण्डी के पूर्ववर्त्ती नहीं है।

(ii) एक पंक्ति में बाण को सर्वश्रेष्ठ गद्यकार कहने से या बाण की प्रशंसा करने से प्रकाशवर्ष बाण के परवर्त्ती सिद्ध नहीं होते हैं। प्रकाशवर्ष ने महाभामह, अध्यराज, श्रीसाहसांक, बाण और वात्स्यायन-इन पांच ग्रन्थकारों तथा महेश्वर, स्वयंभू, वातव्याधि, बृहस्पति, इन्द्र और कौटिल्य-इन छः लेखकों के 'अर्थशास्त्र', 'कामन्दकीयनीतिसार' और 'विदग्धमुखमण्डन'-ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है, इन

20. "रसार्णवालङ्कार ऑव प्रकाशवर्ष" वी. राघवन, *जर्नल ऑव ऑरियण्टल रिसर्च*, मद्रास, 1934, पृष्ठ 267-276.

21. "रसार्णवालङ्कार ऑव प्रकाशवर्ष", एस.पी. भट्टाचार्य, *जर्नल ऑव आरियण्टल इन्स्टीट्यूट*, बड़ोदा, vii, 1957, नं. 1-2 और ix, 1959, पृष्ठ 5-16.

सभी को भी प्रकाशवर्ष ने सम्मान दिया है। अतएव प्रकाशवर्ष बाण के परवर्त्ती तथा भामह और दण्डी के पूर्ववर्त्ती अर्थात् 650 ईसवी और 750 ईसवी के मध्यकालीन नहीं हैं।

(iii) निस्सन्देह 'रसार्णवालङ्कार' 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' का अति संक्षिप्त प्रतिरूप है, किन्तु प्रकाशवर्ष भोज के बाद अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के भी आचार्य प्रतीत नहीं होते हैं। इसके कई कारण हैं-

(क) भोज के प्रभाव से प्रभावित अकेले आचार्य नहीं हैं प्रकाशवर्ष, कई आचार्य हैं। जैसे शारदातनय हैं। इनका ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' है। 'भावप्रकाशन' में नाट्य-परक सामग्री के साथ काव्य-शास्त्रीय विषयों का सम्मिश्रण है। वहीं द्वादशविध 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' की चर्चा है जो कि चार-चार भेदों के साथ तीन भागों में विभाजित होता है, यथा-

(i) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य तथा प्रविभाग।
(ii) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा एकार्थीभाव।
(iii) दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग तथा रसावियोग।[22]

यह प्रकरण भोज के 'शृंगारप्रकाश' से यथावत् ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार, भावप्रकाशन में भाव, अनुभावादि के सम्बन्ध में अनेक नवीन तथ्य प्रकट हुए हैं, जैसे-उद्दीपन विभाव के आठ भेदों का वर्णन-ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रुक्ष, खर, निन्दित और विकृत।[23] अनुभाव के चार विभाग-मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव।[24] ये भी तथ्य 'शृंगारप्रकाश' से ग्रहण किए गए हैं।

शारदातनय ने सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि का रससिक्त पर्यालोचन किया है। उन्होंने रससम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत करते समय भरत, वृद्धभरत, वासुकि, पद्मभू, नारद आदि अनेक आद्याचार्यों के मतों को उद्धृत किया है। अतएव परवर्त्ती साहित्य में उनके कथनों का महत्त्व बढ़ गया है।[25]

प्रकाशवर्ष ने भी अपने 'रसार्णवालङ्कार' में भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' से ग्रहण किया है तथा भामह, महाभामह आदि आचार्यों के मतों

22. (क) *भावप्रकाशनम्*, शारदातनय (सं. एवं व्या.) मदन मोहन अग्रवाल, प्रथम संस्करण. 1978; द्वितीय संस्करण, 1983 द्वारा-, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 206.
(ख) *शृङ्गारप्रकाशः*, सप्तमप्रकाशः, पृष्ठ 223.
23. *भावप्रकाशनम्*, पृष्ठ 6.
24. (क) *भावप्रकाशनम्*, पृष्ठ 8; (ख) *शृङ्गारप्रकाशः*, सप्तदशप्रकाशः, पृष्ठ 699.
25. *भावप्रकाशनम्*, भूमिका, पृष्ठ 24-27.

को उद्धृत किया है।[26]

इस प्रकार शारदातनय और प्रकाशवर्ष के ग्रन्थ संकलन-ग्रन्थ की श्रेणी में आते हैं, दोनों आचार्यों की ग्रन्थशैली एक जैसी है। इससे प्रतीत होता है कि प्रकाशवर्ष शारदातनय के अनुवर्त्ती हैं। शारदातनय का समय 1250 ईसवी है।[27] प्रकाशवर्ष इनके परवर्त्ती होने चाहिए।

(ख) भोज और शारदातनय से प्रभावित शिंगभूपाल हैं। इनका 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ है। ग्रन्थ में रञ्जकोल्लास, रसिकोल्लास और भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। शिंगभूपाल ने भी अपने ग्रन्थ के 'भावोल्लास' में शारदातनय के समान ललित, ललिताभासादि-आठ उद्दीपन विभावों तथा मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव[28]- चार अनुभावों का उल्लेख किया है। शिंगभूपाल शारदातनय के अनुवर्त्ती ही हैं। यदि प्रकाशवर्ष भी इसी परम्परा में आते हैं, तो बहुत सम्भव है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'रसार्णवालङ्कार' 'रसार्णवसुधाकर' के नाम से रखा हो, क्योंकि इस काल के भानुदत्त (14वीं शताब्दी) के दो ग्रन्थ हैं उनका नाम भी 'रसमंजरी' और 'रसतरङ्गिणी' है। शिंगभूपाल चौदहवीं (14वीं) शताब्दी[29] के हैं। प्रकाशवर्ष इनके समकालीन अथवा थोड़े परवर्त्ती होने चाहिए।

(ग) प्रकाशवर्ष ने 'प्रश्नोत्तर' नामक शब्दालंकार के भेदों की चर्चा करते हुए *'विदग्धमुखमण्डनम्'* ग्रन्थ का संदर्भ दिया है-

अस्य निश्शेषभेदानामवबोधेऽस्ति चेत् स्पृहा।
तदालोकयत ग्रन्थं विदग्धमुखमण्डनम्।।[30]

इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि प्रकाशवर्ष 'विदग्धमुखमण्डन' ग्रन्थ से सुपरिचित थे। इस ग्रन्थ के प्रणेता धर्मदास सूरी हैं। इनका ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' चार अध्यायों में विभाजित है, इसमें विभिन्न विषय हैं जो चित्रकाव्यस्वरूप हैं, मूलतः इसमें प्रहेलिका, गूढप्रश्नोत्तर आदि हैं। चित्रकाव्य-परम्परा में इस ग्रन्थ का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ के टीकाकार जिनप्रभ हैं जो जयसिंह के शिष्य हैं।[31]

26. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.29, 34, 37, 38 इत्यादि।
27. *भावप्रकाशनम्*, भूमिका, पृष्ठ 2-6.
28. *रसार्णवसुधाकरः*, शिंगभूपाल, (सं.) रेवा प्रसाद द्विवेदी, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर, 1969, पृष्ठ 30.
29. *रसार्णवसुधाकरः*, आमुखम्, पृष्ठ ख।
30. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.56 ।
31. *पीटरसन्स रिपोर्टस् ऑव द ऑपरेशन्स इन सर्च ऑव संस्कृत मैनुस्क्रिप्टस् इन द बाम्बे,*

जिनप्रभ का समय लगभग 1293 ईसवी और 1309 ईसवी है। अतएव [32]धर्मदास तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रहे होंगे-यह कहा जा सकता है। इसके पश्चात् प्रकाशवर्ष रहे होंगे अर्थात् प्रकाशवर्ष चौदहवीं शताब्दी के ही होंगे। निस्सन्देह प्रकाशवर्ष धर्मदास और जिनप्रभ के पूर्ववर्त्ती नहीं होने चाहिए, परवर्त्ती ही होने चाहिए।

(घ) भोजकृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की 'रत्नदर्पण' नामक टीका है। टीकाकार रत्नेश्वर मिश्र हैं। विषय के स्पष्टीकरण के लिए अथवा उपयुक्त शब्दचयन के लिए प्रकाशवर्ष ने 'रसार्णवालङ्कार' में 'रत्नदर्पण' टीका से यत्र-तत्र शब्दावली को ग्रहण किया है, जैसे- अशरीरत्व वाक्यदोष, ओजोविपर्यय दोष, सौकुमार्य अर्थगुण इत्यादि में किया है।[33] इससे प्रतीत होता है कि प्रकाशवर्ष [34]रत्नेश्वर मिश्र (14वीं शताब्दी) के समकालीन अथवा थोड़े परवर्त्ती होने चाहिए।

(ङ) अप्पय दीक्षित ने भोज से प्रभावित हो अपने ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में भारतीय दर्शन में स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-इन चार प्रमाणों को अलंकार-स्वरूप स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य जैसे दार्शनिक प्रमाणों को भी अलंकारों का रूप प्रदान किया है।[35] अप्पय दीक्षित के अतिरिक्त किसी भी अलंकारशास्त्री ने भोज का ऐसा अनुसरण नहीं किया है। प्रकाशवर्ष ने प्रमाणों को अलंकार माना है।[36] इतना सादृश्य तो दोनों आचार्यों में अवश्य है, किन्तु अप्पयदीक्षित दार्शनिक अधिक हैं, अलङ्कारशास्त्री कम। अतएव अप्पयदीक्षित पर भोज का ही दार्शनिक पक्षमात्र में प्रभाव है। [37]अप्पय दीक्षित को सोलहवीं (16वीं) शताब्दी के अन्तिम चरण में रखा जाता है। प्रकाशवर्ष इनसे पूर्ववर्त्ती ही हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से तो प्रतीत होता है कि प्रकाशवर्ष भोज, शारदातनय, शिंगभूपाल, धर्मदास और रत्नेश्वर मिश्र के परवर्त्ती तथा अप्पय दीक्षित के पूर्ववर्त्ती अर्थात् चौदहवीं शताब्दी के होने चाहिए। निस्सन्देह प्रकाशवर्ष को 1350-1400 ईस्वी का

वॉल्यूम iv, पृष्ठ xxxvi.

32. *हिस्ट्री ऑव क्लासिकल् संस्कृत लिटरेचर*, एम्. कृष्णमाचारी, दिल्ली, 1989, पृष्ठ 766-767.
33. *सरस्वतीकण्ठाभरणम्*, भोज, रत्नेश्वरमिश्रकृतया 'रत्नदर्पण'टीकया संवलितम्, (सं.) डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976, प्रथम भाग, पृष्ठ 51,58,115।
34. *सरस्वतीकण्ठाभरणम्*, भूमिका, पृष्ठ 17-18.
35. *कुवलयानन्दः*, अप्पयदीक्षित, (व्या.) डॉ. भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963, पृष्ठ 275-284.
36. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.91-94.
37. *कुवलयानन्दः*, भूमिका, पृष्ठ 17-18.

आचार्य कहा जा सकता है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि काश्मीरी कवि प्रकाशवर्ष ही अलंकारशास्त्री हैं। 'शिशुपालवध' के टीकाकार [38]वल्लभदेव (15वीं शताब्दी) के गुरु भी ये ही प्रकाशवर्ष हैं। अलं विवादेन।

रसार्णवालङ्कार

'रसार्णवालङ्कार' आकार में छोटा ग्रन्थ है, किन्तु महत्त्वपूर्ण है। महाभामह, भामह, दण्डी, भोज इत्यादि अनेक अलंकारशास्त्रियों के सिद्धान्तों का सार ग्रहण करके प्रकाशवर्ष ने 'रसार्णवालङ्कार' का प्रणयन किया है, उक्तं हि-'पूर्वभङ्ग्या तु तत्प्रपञ्चः प्रकीर्त्यते'.[39]। सम्पूर्ण प्रतिपाद्य सामग्री पाँच परिच्छेदों में विभक्त की गई है, जिसमें श्लोकबद्ध शैली के दर्शन होते हैं तथा दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग और रसाभियोग स्वरूप काव्यतत्त्व के परिदर्शन होते हैं।

प्रथम परिच्छेद 'दोषप्रमोष' है। इसमें पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष-त्रिविध दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दोष-सामान्य की परिभाषा न देते हुए यहां सीधे सर्वप्रथम चौदह (14) पद-दोषों का उल्लेख प्राप्त है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं-1. असाधु, 2. अनिबद्ध, 3. कष्ट, 4. क्लिष्ट, 5. अनर्थक, 6. अपुष्टार्थ, 7. गूढोक्ति, 8. अप्रतीत, 9. ससंशय, 10, नेयार्थ, 11. असमर्थ, 12. अप्रयोजक, 13. देश्य, और 14. ग्राम्य। इनमें से 'ग्राम्य' के असभ्य, अमंगल और घृणाकर त्रिविध रूपों का प्रतिपादन भी प्रकाशवर्ष ने किया है।

'वाक्यदोष' भी इसमें चौदह (14) स्वीकार किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं-1. शब्दहीन, 2. क्रमभ्रष्ट, 3. विसन्धि, 4. पुनरुक्तिमत्, 5. व्याकीर्ण, 6. भिन्नवृत्त, 7. संकीर्ण, 8. गर्भित, 9. भिन्नलिंग, 10. भिन्नवचन, 11. खंज, 12. न्यून, 13. अधिक, और 14. श्लेषादिगुणहीन। इनमें से 'भिन्नवृत्त' को दो प्रकार का कहा है- वर्णभ्रंशदोष और यतिभ्रंशदोष। 'श्लेषादिगुणहीन' दोष को भी अनेक प्रकार का कहा गया है, कारण कि गुण तीन प्रकार के होते हैं-शब्दगुण, अर्थगुण, और उभयगुण; पुनः शब्दगुण तीन हैं-श्लेष, समता, और सुकुमारता; अर्थगुण तीन हैं-अर्थव्यक्ति, प्रसाद और कान्ति; तथा उभयगुण चार हैं-ओज, माधुर्य, औदार्य, और समाधि। उक्त दस गुणों का अभाव रहने से 'श्लेषादिगुणहीन' दोष दस प्रकार के कहे गए हैं-(i) श्लेषविपर्यय, (ii) साम्यविपर्यय, (iii) सौकुमार्यविपर्यय, (iv) अर्थव्यक्ति विपर्यय, (v) प्रसादविपर्यय, (vi) कान्तिविपर्यय, (vii) प्रौढिविपर्यय, (viii) माधुर्यविपर्यय, (ix) औदार्यविपर्यय, और (x) निस्समाधि। उक्त श्लेषविपर्ययादि दस विपर्ययों से उत्पन्न दोषों का प्रकाशवर्ष ने नामकरण किया है, जो इस प्रकार

---

38. *हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल् संस्कृत लिटरेचर*, पृष्ठ 387.
39. *रसार्णवालङ्कारः*, 1.1 ।

है-(i) शिथिल, (ii) विषम, (iii) कठोर, (iv) नेयार्थ, (v) अप्रसन्न, (vi) अव्युत्पन्न, (vii) अप्रौढि, (viii) अनिर्व्यूढ, (ix) निरलंकार, और (x) ऋजुमार्ग।

'वाक्यार्थदोष' सोलह (16) कहे गए हैं-1. अपार्थ, 2. व्यर्थ, 3. एकार्थ, 4. ससंशय, 5. अपक्रम, 6. खिन्न, 7. अतिमात्र, 8. विरस, 9. परुष, 10. हीनोपम, 11. अधिकोपम, 12. विसदृशोपम, 13. अप्रसिद्धोपम, 14. निरलंकार, 15. अश्लील, और 16. विरुद्ध। इनमें से अन्तिम 'विरुद्ध' दोष तीन प्रकार का कहा गया है-(i) प्रत्यक्षविरुद्ध, (ii) अनुमानविरुद्ध, और (iii) आगमविरुद्ध। पुनः 'प्रत्यक्षविरुद्ध' त्रिविध है-देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, और लोकविरुद्ध; 'अनुमानविरुद्ध' भी तीन प्रकार का है-युक्तिविरुद्ध, औचित्यविरुद्ध, और प्रतिज्ञाविरुद्ध; और इसी प्रकार 'आगमविरुद्ध' त्रिविध है-धर्मशास्त्रविरुद्ध, अर्थशास्त्रविरुद्ध, और कामशास्त्रविरुद्ध। इस प्रकार त्रिविध विरुद्ध पुनः त्रिविध-त्रिविध होने से नौ प्रकार का कहा गया है---एवं त्रयमपि त्रित्वान्नवतां प्रतिपद्यते"[40]।

आचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन समीक्षकों तक सभी ने दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है। **भरत** ने मात्र दस दोष स्वीकार किए हैं। वे सभी पददोष ही हैं। वे इस प्रकार हैं:-

"गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः।"[41]

भामह ने अपने काव्यालंकार में दोषों का विवेचन चार बार किया है। प्रथम परिच्छेद में नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढशब्दाभिधान-छः अर्थ-दोषों का और श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट-चार भाषागत दोषों का; द्वितीय परिच्छेद में हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य और उपमानासादृश्य-सात उपमागत दोषों का; तथा चतुर्थ परिच्छेद में अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी लोकविरोधी, न्यायविरोधी, आगमविरोधी, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन-अठारह काव्यदोषों का निरूपण किया है।

दण्डी ने प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन-इन तीन दोषों को छोड़कर भामहोक्त पन्द्रह काव्यदोषों को ही स्वीकार किया है।

वामन ने दोषों का वर्गीकरण शब्द और अर्थ के भेद से किया है। शब्द के अन्तर्गत पद और वाक्य के दो अनुच्छेद, तथा अर्थ के अन्तर्गत भी पदार्थ और वाक्यार्थ के दो ही अनुच्छेद उन्होंने स्वीकार किए हैं। किन्तु पद-पदार्थ और

40. *रसार्णवालङ्कारः*, 1.41व ।
41. *नाट्यशास्त्रम्*, 17.87 ।

वाक्य-वाक्यार्थ के दो युग्मों में उन्होंने दोषों को दस-दस की संख्या में ही आबद्ध रखा है---पद-पदार्थदोष=आसाधुत्व, कष्टत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व और अनर्थकत्व+अन्यार्थत्व, नेयार्थत्व, गूढार्थत्व, अश्लीलत्व और क्लिष्टत्व, वाक्य-वाक्यार्थदोष=वृत्तभेद, यतिभ्रंश और विसन्धित्व+व्यर्थत्व, एकार्थत्व, सन्दिग्धत्व, अयुक्तत्व, अपक्रमत्व, लोकविरोध और विद्याविरोध।

मम्मट ने पूर्वाचार्यों की भांति मात्र शब्द अथवा अर्थदोष ही स्वीकार नहीं किए हैं, अपितु उनके अनुसार दोषों के छः आश्रय होने से छः प्रकार हैं-पददोष, पदैकगतदोष, वाक्यदोष, वाक्यमात्रगतदोष, अर्थदोष और रसदोष।

विश्वनाथ मम्मट का अनुसरण करते हुए वाक्यमात्रगतदोष का वाक्यदोष में अन्तर्भाव करके अन्य पाँच प्रकार के दोषों को स्वीकार करते हैं।

भोज के अनुसार दोषों का वर्गीकरण पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत भेद से तीन प्रकार का है। मम्मट का पदैकगत दोष पददोष, वाक्यमात्रगतदोष वाक्यदोष और रसदोष रसरूप मुख्यार्थ का आश्रय होने से पद, वाक्य अथवा वाक्यार्थ दोष ही है। अतएव **प्रकाशवर्ष** ने अपने पूर्ववर्ती भोजराज की परम्परा का पालन करते हुए दोषों का वर्गीकरण पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत भेद से तीन प्रकार का ही स्वीकार किया है। यह वर्गीकरण सोपपत्तिक तथा विवेकपरिचायक है।

यद्यपि प्रकाशवर्ष ने भोज का अनुसरण किया है, किन्तु पददोषों की संख्या के विषय में उन्होंने भोज के सोलह पददोषों में से अन्यार्थक और विरुद्ध दो दोषों को छोड़कर अन्य चौदह पददोष स्वीकार किए हैं, तथा अप्रयुक्त के स्थान पर अनिबद्ध और सन्दिग्ध के स्थान पर ससंशय पददोष नाम दिए हैं।

आचार्य वामन ने भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि-ये तीन वाक्य-दोष कहे हैं-'भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसंधीनि वाक्यानि'[42]। रुद्रट कहते हैं कि संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ-इन तीन दोषों से वाक्य दुष्ट होता है-'वाक्यं भवति तु दुष्टं सङ्कीर्णं गर्भितं गतार्थं च',[43] किन्तु ये अन्यत्र यह कहते हैं कि न्यून, अधिक, अवाचक, अक्रम, अपुष्टार्थ, अपशब्द, दुःश्रवत्वादि दोषों से शून्य परिपूर्ण अर्थ-निर्भर वाक्य का प्रयोग विद्वान् को करना चाहिए[44]। भोज ने वाक्य--दोषों को 'महादोष' कहा है। उनकी मान्यता है कि पददोषों अथवा अर्थदोषों की सम्भावना वाक्यदोषों में भी की जा

42. *काव्यालङ्कारसूत्रम्*, 2.2.1 ।
43. *काव्यालङ्कारः*, 6.41 ।
44. *उपरिवत्*, 2.8 ।

सकती है किन्तु सर्वाधिक खटकने वाले तो वाक्यगत ही दोष होते हैं अतएव ये 'महादोष' हैं। भोज की भांति मम्मट का कथन है कि 'एकपदवृत्ति' श्रुतिकटु आदि पददोष हैं तथा अनेक 'अनेकपदवृत्ति' श्रुतिकटु आदि वाक्यदोष हैं। व्याकरण द्वारा पदों का ही संस्कार होता है, अतएव च्युतिसंस्कृति पददोष है, यह वाक्य में नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'असमर्थ' और 'निरर्थक' भी पददोष हैं, वाक्यदोष नहीं। भोज ने तो अपनी पूर्वप्रतिज्ञानुसार वाक्यगत दोष भी सोलह कहे हैं, किन्तु मम्मट ने च्युतिसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक-ये तीन पददोष छोड़कर अन्य श्रुतिकटु आदि तेरह दोषों को ही वाक्यगत दोष स्वीकार किया है तथा उन सोलह में से कुछ पदांश में भी वाक्यदोष होते हैं-ऐसा माना है[45]। **प्रकाशवर्ष** ने भोज के 'अपद' और 'भिन्नयति'-इन दो वाक्यदोषों को छोड़कर शेष चौदह दोषों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, किन्तु इनमें भी भोज के 'अशरीर' और 'अरीतिमत्' की उन्होंने क्रमशः 'खञ्ज' और 'श्लेषादिगुणहीन' संज्ञा दी है।

आचार्य वामन के अनुसार व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध और विद्याविरुद्ध-ये सात प्रकार के वाक्यार्थ दोष हैं। भामह अठारह दोष स्वीकार करते हैं और दण्डी दस दोष मानते हैं। रुद्रट ने अपहेतु आदि नौ अर्थदोष स्वीकार किए हैं,[46]। भोज ने दोष-विभाजन-यथा पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत-वामन की दृष्टि से किया है, किन्तु वाक्यार्थ-दोष उन्होंने भामह और दण्डी से सोदाहरण ग्रहण किए हैं। भोज के अनुसार वाक्यार्थ-दोष सोलह हैं। **प्रकाशवर्ष** ने यहाँ बिना किसी परिवर्तन के ही भोज का अनुसरण किया है।

द्वितीय परिच्छेद 'गुणोपादान' है। प्रकाशवर्ष की दृष्टि में शब्दार्थज कलान्वित लोक, दोषरहित होने पर भी 'गुणोपादान' के बिना काव्य की साधुता स्वीकार नहीं करता। जैसे कुष्ठादि रोगों अथवा दोषों से रहित भी कामिनी-सुन्दरी का शरीर गुणों के बिना प्रशंसा का पात्र नहीं होता। निस्सन्देह नृत्त, गीतादि रमणीक गुणों का आदर सर्वात्मना होता है, अतएव 'गुणोपादान' काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है। 'गुण' शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार के कहे गए हैं। 'शब्दगुण' संख्या में बाईस (22) हैं-1. श्लेष, 2. प्रसाद, 3. समता, 4. माधुर्य, 5. सुकुमारता, 6. अर्थव्यक्ति, 7. कान्ति, 8. उदारत्व=औदार्य, 9. उदात्तता, 10. ओज, 11. और्जित्य, 12. प्रेयस्, 13. सुशब्दता, 14. समाधि, 15. सौक्ष्म्य, 16. गाम्भीर्य, 17. संक्षेप, 18. विस्तर, 19. सामित्य, 20. भाविकत्व, 21. रीति, और 22. उक्ति।

प्रकाशवर्ष के अनुसार उक्त गुणों के नाम सान्वय अथवा अर्थान्वित हैं। उनका आग्रह है कि गुणोपादान हेतु शब्दों और वाक्यों का विन्यास विशिष्ट होना

45. *काव्यप्रकाशः*, 7.52 ।
46. *काव्यालङ्कारः*, 11.21 ।

चाहिए। 'अर्थगुण' भी संख्या में बाईस (22) हैं। इनके नाम शब्दगुणों के ही समान हैं। यहीं प्रकाशवर्ष अन्वीक्षा करते हैं कि पद आदि पर आश्रित जो दोष भी किसी कारण से अथवा अनुकरण आदि करने से क्वचित् गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं तो वे 'दोषगुण' अथवा 'वैशेषिक-गुण' कहे जाते हैं।

'क्वचित् दोष भी गुण हो जाते हैं'-यह एक शाश्वत सत्य है। काव्य में पद आदि पर आश्रित दोष भी गुणत्व प्राप्त करते हैं। ये होते तो वस्तुतः दोष ही हैं किन्तु ये दोषों की भांति मुख्यार्थ का बाध न कर पाने के कारण गुण हो जाया करते हैं। ये दोष अनुकरण आदि से गुण होते हैं। क्वचित् अन्य कारणों से भी दोषों में गुणत्वाधान होता है। आचार्य रुद्रट ने कहा है-

'अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतक्लिष्टवर्णं च।।'[47]

'असमर्थादि दोषों से दुष्ट परिपूर्ण वाक्य या पद जहाँ स्वरूपतः अनुकरणमात्र प्रयोजन से प्रयुक्त होता है वह सदोष नहीं होता। इसी प्रकार दुष्ट क्रम और क्लिष्ट वर्ण होने पर भी सदोष नहीं होता।'

आचार्य भामह कहते हैं-

'सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।।
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।।'[48]

'सन्निवेश की विशेषता के कारण पुष्पों की माला के बीच गुंथे हरे पत्ते के समान कहीं-कहीं सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। रमणी के नेत्रों में लगे काले अंजन के सदृश कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण भी दोष रमणीयता धारण कर लेता है।'

आचार्य वामन ने कहा है कि यदि विशेष प्रयोजन हो तो उक्तार्थता में एकार्थ दोष नहीं होगा[49]। दण्डी ने भी दोषों में अदोषता का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है[50]। मम्मट ने भी 'अनुकरणे तु सर्वेषाम्'[51]='अनुकरण में सभी दोषों की अदोषता है'-ऐसा कहा है। विश्वनाथ ने भी मम्मट की तरह कहा है-

47. *काव्यालङ्कारः*, 6.47 ।
48. *काव्यालङ्कारः*, 1.54-55 ।
49. *काव्यालङ्कारः*, 2.2.12-17 ।
50. *काव्यादर्शः*, तृतीय परिच्छेद, दोषप्रकरण ।
51. *काव्यप्रकाशः*, सप्तम उल्लास, सूत्र 79 ।

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषतां
अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता[52]॥

इस प्रकार दोषों में गुणत्वाधान की स्वीकृति प्रायः सभी आचार्यों ने दी है, किन्तु इन दोषगुणों का नामकरण-'वैशेषिक गुण' भोज ने ही किया है। भोज ने दोषों की भांति दोषगुणों को भी पद, वाक्य और वाक्यार्थ के भेद से प्रत्येक को चौबीस-चौबीस प्रकार का कहा है। प्रकाशवर्ष ने यहाँ भोज का अनुसरण किया है, किन्तु संख्या-भेद में थोड़ी भिन्नता की है। प्रकाशवर्ष दोषगुणों को पद, वाक्य और वाक्यार्थ के रूप में विभाजित करते हैं, पुनः पदगत और वाक्यगत के चौदह-चौदह तथा वाक्यार्थगत के सोलह प्रकार कहते हैं। इस प्रकार ये कुल चौबालीस दोषगुण स्वीकार करते हैं, जबकि कारिका में इनको चालीस कहते हैं-

चत्वारिंशत् तदुच्यन्ते ते च वैशेषिका गुणाः[53]॥

चौदह (14) पदगत दोषगुण हैं-1. असाधु, 2. अनिबद्ध, 3. कष्ट, 4. क्लिष्ट, 5. अनर्थक, 6. अपुष्टार्थ, 7. गूढार्थ, 8. अप्रतीत, 9. सन्दिग्ध, 10. नेयार्थ, 11. असमर्थ, 12. अप्रयोजक, 13. देश्य, और 14. ग्राम्य।

चौदह (14) वाक्यगत दोषगुण हैं-1. शब्दहीन, 2. क्रमभ्रंश, 3. विसन्धि, 4. पुनरुक्त, 5. व्याकीर्ण, 6. छन्दोभंग, 7. संकीर्ण, 8. गर्भित, 9. भिन्नलिंग, 10. भिन्नवचन, 11. खंज, 12. न्यूनोपम, 13. अधिकोपम, और 14. श्लेषादिहीन। पुनः श्लेषादिहीन-गत दस भेद हैं-(i) शिथिल, (ii) वैषम्य, (iii) कठोर, (iv) नेयार्थ, (v) अप्रसन्न, (vi) अव्युत्पन्न, (vii) अप्रौढि, (viii) अनिर्व्यूढ, (ix) निरलंकार, और (x) ऋजुमार्ग।

सोलह (16) वाक्यार्थगत दोषगुण हैं- 1. अपार्थ, 2. विरस, 3. व्यर्थ, 4. एकार्थ, 5. सन्दिग्ध, 6. अपक्रम, 7. खिन्न, 8. अतिमात्र, 9. परुष, 10. हीनोपम, 11. अधिकोपम, 12. असदृशोपम, 13. अप्रसिद्धोपम, 14. निरलंकार, 15. अश्लील, और 16. विरुद्ध। उनमें से 'विरुद्ध' को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के प्रति विरोध होने से प्रत्यक्ष को देश, काल और लोक से विरुद्ध; अनुमान को युक्ति, औचित्य और प्रतिज्ञा से विरुद्ध, तथा आगम को धर्म, अर्थ और काम-सम्बन्धी शास्त्रों से विरुद्ध कहकर, नौ प्रकार का कहा है।

इसप्रकार प्रकाशवर्ष ने उपर्युक्त चौबालीस दोषों में गुणता का प्रतिपादन कर चौबालीस दोष-गुणों का विशद विवेचन किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में गुणों को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले आचार्य वामन हैं। वैसे

---

52. *साहित्यदर्पणः*, 7.31-32 ।
53. *रसार्णवालङ्कारः*, 2.36अ ।

गुणों का निरूपण भरत मुनि से ही आरम्भ हो जाता है और दण्डी भी उन पर पर्याप्त ध्यान देते हैं।

भरत ने दस गुणों का उल्लेख किया है-श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।

भामह ने प्रकारान्तर से तीन ही गुणों का-माधुर्य, प्रसाद और ओज-उल्लेख किया है।

दण्डी ने किंचित् क्रमभेद करके भरत जैसे ही दस गुणों को स्वीकार किया है-श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि।

वामन ने भरतोक्त दस गुणों को ही शब्दगत और अर्थगत भेद करके समान नामकरण के साथ दस-दस अर्थात् बीस गुण स्वीकार किए हैं।

मम्मट को वामनोक्त शब्दगत और अर्थगत गुणों का विभाजन मान्य नहीं है। वे गुणों को शब्द या अर्थ का धर्म न मानकर रस का धर्म स्वीकार करते हैं। इसलिए उनके मत में शब्दगुण अथवा अर्थगुण का विभाग नहीं है। इसके अतिरिक्त मम्मट वामनोक्त दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुण-माधुर्य, ओज और प्रसाद-ही मानते हैं।

विश्वनाथ ने तीन गुण स्वीकार किए हैं-माधुर्य, ओज और प्रसाद। उनके अनुसार वे विशिष्ट वर्ण-संघटना के आश्रित होते हैं तथा रस के आस्वादन में मन के विस्तार, व्याप्ति और द्रावण गुणों के सूचक होते हैं।

भोज के अनुसार तीन प्रकार के गुण होते हैं-बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। बाह्य शब्दाश्रित हैं, वे संख्या में चौबीस हैं। अर्थाश्रित आन्तर हैं, वे भी चौबीस हैं। वैशेषिक वे हैं जो दोषरूप होने पर भी गुण होते हैं। वैशेषिक गुण तो भोज की अपनी ही मान्यता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने ऐसी स्थितियों का संकेत अवश्य किया था कि जहाँ पर दोष-दोष नहीं रह पाते थे, किन्तु उनका नामकरण और गुणों के मध्य में उनकी गणना करने का प्रयास सर्वप्रथम भोज ने ही किया है। **प्रकाशवर्ष** ने सर्वथा भोज का ही अनुसरण किया है, किन्तु शब्दगुणों और अर्थगुणों की संख्या के विषय में उन्होंने भोज के चौबीस गुणों में से गति और प्रौढि-दो गुणों को छोड़कर अन्य बाईस गुण स्वीकार किए हैं।

तृतीय परिच्छेद 'शब्दालंकारप्रकाशन' है। निश्चय ही जिस प्रकार कामिनी का शरीर निसर्ग सुन्दर होने पर भी अलंकारों के संयोग से प्रकर्षाधायक हो जाता है उसी

प्रकार काव्यशरीर निर्दोष व सगुण अर्थात् रसान्वित होने पर भी अलंकारों के योग से उत्कर्षाधायक हो जाता है। निसर्ग-रमणीक लावण्य की तिरोधायकता तो अलंकारों के बिना होती है, शरीर अलंकारों से युक्त होने पर ही सौन्दर्याधायक होता है अतएव अलंकारों की अतिशय स्तुति-प्रशंसा है। स्वाभाविक रमणीयता बिना अलंकारों के व्यर्थ है। स्तनतटों के मध्य स्थापित डोलता हुआ हार सहृदय-मन का हरण करता ही है। सागर से प्राप्त कौस्तुभ-मणिहार को कन्दर्पकोटिलावण्य, सौन्दर्यनायक भगवान् विष्णु-कृष्ण भी धारण करते ही हैं। अतएव प्रकाशवर्ष ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'रसार्णवालङ्कार' रखा है जो सार्थक है।

नारी-शरीर पर तीन प्रकार के अलंकार कहे गए हैं-बाह्य, आन्तर और बाह्याभ्यन्तर। उनमें बाह्य द्रव्यों से रचित को 'बाह्य' कहते हैं, जैसे-वस्त्र, हार, पुष्प आदि पृथक् रूप से अवभासित-प्रकाशित होते हैं। स्वीय अवयवों के संस्कार से जन्य 'आन्तर' कहे जाते हैं, जैसे-नखोल्लेख, अलकादि स्वरूप की शोभा के जनक होते हैं। बाह्य भी पदार्थों से रचित जब तन्मयता को प्राप्त होते हैं तो वे 'बाह्याभ्यन्तर' कहे जाते हैं, जैसे धूप, आस्यवास आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार काव्य-शरीर पर भी जो बाह्यतः भासित होते हैं वे सभी "बाह्य" अर्थात् 'शब्दालंकार' कहे जाते हैं। जो अर्थ के परामर्श-निर्णय से स्फुटित होते हैं वे 'अर्थालंकार' होते हैं और आत्मना अर्थात् अपने से ही आन्तरिक प्रतीतिस्वरूप होने से 'आन्तर' कहे जाते हैं। शब्द के उत्कर्ष का विस्तार करने वाले शब्दालंकार और अर्थ के उत्कर्ष के निमित्त-भूत-कारणभूत 'अर्थालंकार' तथा द्विविध अलंकारों के हेतुभूत 'उभयालंकार' अर्थात् "बाह्यान्तर" कहे जाते हैं। प्रकाशवर्ष ने इस प्रकार बाह्य, आन्तर और बाह्यान्तर त्रिविध भेद से अलंकारों को शब्दार्थोभयसंज्ञा प्रदान की है।

भामह से पूर्व अलंकार-वादियों के दो वर्ग थे-अर्थालंकारवादी और शब्दालंकारवादी। जिनमें शब्दालंकारवादियों के अनुसार रूपक आदि अर्थालंकार बाह्य हैं। उक्त दोनों अतिवादी मतों के बीच समन्वय उपस्थित करते हुए भामह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के अलंकार - भेद से हमको दोनों इष्ट हैं[54]। अतएव सभी परवर्ती आचार्यों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का ही उल्लेख किया है। मम्मट ने उभयालंकार की चर्चा की है। भोज ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार भेद से त्रिविध अलंकार स्वीकार किया है। भोज ने सम्भवतः भामह से ही प्रेरणा ग्रहण कर अलंकारों की बाह्यता, आन्तरता और बाह्यान्तरता का निरूपण किया है। भोज ने ये नाम अलंकारों की प्रतिक्रिया के आधार पर रखे हैं जबकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्राधान्य अथवा गौणता के क्रम से रखे हैं। प्रकाशवर्ष ने पूर्णतः भोज का अनुसरण किया है।

---

54. *काव्यालङ्कारः*, 1.14-15 ।

प्रकाशवर्ष ने इस परिच्छेद में अठारह (18) शब्दालंकार कहे हैं-1. जाति, 2. रीति, 3. वृत्ति, 4. रचना, 5. घटना, 6. मुद्रा, 7. छाया, 8. युक्ति, 9. भणिति, 10. श्रव्यता, 11. श्लेष, 12. चित्र, 13. औचित्य, 14. प्रश्नोत्तर, 15. प्रहेलिका, 16. अनुप्रास, 17. यमक, तथा 18. गूढोक्ति।

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों की संख्या के विषय में बहुत मतभेद हैं। यहाँ तक कि शब्दालंकारों की संख्या में अर्थालंकारों की संख्या में भी मतभेद है। शब्दालंकारों में आचार्य भरत ने मात्र एक शब्दालंकार-'यमक'-ही स्वीकार किया है। भामह ने 'यमक' और 'अनुप्रास'-ये दो शब्दालंकार कहे हैं। दण्डी, वामन आदि ने भी भामहोक्त ही दो शब्दालंकारों की गणना की है। मम्मट ने उक्त दो के साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालंकार माना है। इस प्रकार मम्मट के मत में शब्दालंकारों की संख्या छः हो जाती है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों ने भी प्रायः पाँच-छः शब्दालंकार ही स्वीकार किए हैं। भोज ने चौबीस शब्दालंकारों की नामावली दी है-1. जाति 2. गति 3. रीति 4. वृत्ति 5. छाया 6. मुद्रा 7. उक्ति 8. युक्ति 9. भणिति 10. गुम्फना 11. शय्या 12. पठिति 13. यमक 14. श्लेष 15. अनुप्रास 16. चित्र 17. वाकोवाक्य 18. प्रहेलिका 19. गूढ 20. प्रश्नोत्तर 21. अध्येय 22. श्रव्य 23. प्रेक्ष्य, तथा 24. अभिनीति। भोज से ही प्रभावित होकर प्रकाशवर्ष ने गति, उक्ति, पठिति, वाकोवाक्य, अध्येय, प्रेक्ष्य और अभिनीति-इन सात शब्दालंकारों के अतिरिक्त अन्य सत्तरह को स्वीकार किया है, जिनमें गुम्फना और शय्या के स्थान पर उन्होंने रचना और घटना नाम दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने अठारहवां शब्दालंकार 'औचित्य' स्वीकार किया है जो कि यह भोज के 'जाति' नामक शब्दालंकार में ही प्रयुक्त हुआ है। शब्दालंकारों के उल्लेख में भोज और प्रकाशवर्ष का यह प्रयोग चामत्कारिक है।

उक्त शब्दालंकारों में संस्कृत अथवा प्राकृत आदि वाणी **'जाति'** कहलाती है। इसके शुद्धा और साधारणी-ये दो प्रकार होते हैं। भोज ने इसके छः भेद कहे हैं-शुद्धा, साधारणी, मिश्रा, संकीर्णा, अन्यगामिनी, और अपभ्रष्टा। दण्डी ने जाति-भेदों को 'वाङ्मय' के भेद कहा है, जिसके चार प्रकार कहे हैं-संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। भामह के अनुसार इसके तीन भेद हैं-संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

तद्-तद् देशों की रुचि से=तद्-तद् देशों के कवियों द्वारा यथारुचि स्वीकृत होने से अथवा तद्-तद् देशों में अधिक प्रचलित होने से, न कि वहाँ उत्पन्न होने से,-जो वचो-विन्यास का क्रम अथवा मार्ग होता है उसको **'रीति'** कहा जाता है। इसके भेदों का उल्लेख करने में तो सर्वज्ञ के बिना कौन समर्थ हो सकता है, तथापि प्रकाशवर्ष ने उनमें जो प्रस्फुट भेद हैं वे कहे हैं। वे वैदर्भ, गौड, पांचाल, लाट और अवन्ती देशों के आश्रित पाँच प्रसिद्ध हैं। विदर्भ आदि देशों के कविजनों

द्वारा निर्मित पथ काव्य में 'मार्ग' कहा जाता है। 'रीङ् गतौ'=गत्यर्थक'रीङ्' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'रीति' कही जाती है अर्थात् रीति भी मार्ग है। भोज ने रीति और मार्ग-दोनों की एकार्थता कही है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रीति को 'संघटना' कहा है। दण्डी के अनुसार रीतियों का प्राण गुण है और रीति गुणों का आधार है। वामनानुसार 'रीति' काव्य की आत्मा है।

जो मन के विकास और संकोच में वर्तमान रहने के कारण रसोचित अर्थ से सम्बन्धित पदों का विस्तार करने वाली होती है वह **'वृत्ति'** कहलाती है। इसके पाँच भेद हैं-1. कैशिकी, 2. आरभटी, 3. भारती, 4. सात्वती और 5. साधारणी। भरत ने भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी-ये चार वृत्तियाँ मानी हैं, ये ही चार वृत्तियाँ प्रायः सभी नाट्याचार्यों को मान्य हैं। भोज ने मध्यम-आरभटी और मध्यम कैशिकी-ये दो अतिरिक्त वृत्तियाँ स्वीकार कर छः वृत्तियाँ मानी हैं। प्रकाशवर्ष ने भरतोक्त चार वृत्तियों में 'साधारणी' नाम की पाँचवीं वृत्ति जोड़ दी है। यहाँ प्रकाशवर्ष 'महाभामह' के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जहाँ आरभटी आदि वृत्तियों के समस्त गुण परस्पर मित्रता का आश्रय लेकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस अर्थचतुष्टय की वृत्ति को 'साधारणी' कहते हैं, किन्तु धीरजन इसको 'मिश्रा' कहते हैं। इसके तुरन्त बाद प्रकाशवर्ष कहते हैं कि हमने शास्त्रों में जो वृत्यंग और सन्ध्यंग के लक्षण आदि कहे गए हैं उनको अलंकाररूप से ही स्वीकार किया है[55]। निस्सन्देह भोज और प्रकाशवर्ष ने वृत्तियों को शब्दाश्रित अलंकार कहा है-यह इन दोनों आचार्यों की अपनी विशेषता है।

प्रकाशवर्ष वाक्य में शब्दों के अर्थानुकूल निवेश=विन्यास को **'रचना'** कहते हैं। पदार्थों के उपश्लेष=सन्निधि को **'घटना'** कहते हैं। वाक्य में अभिप्राय-विशेष से अर्थ का जो विन्यास होता है उसको **'मुद्रा'** कहते हैं। यहाँ अर्थ उपलक्षण होता है जो कि शब्दालंकार से ज्ञात होता है। **'मुद्रा'** के विभक्ति, वचन, संविधान और समुच्चय के सन्निवेश से चार भेद होते हैं। अन्योक्तियों का अनुकरण करना **'छाया'** अलंकार कहा जाता है। लोकजन अनन्त होने के कारण यद्यपि 'छाया' के अनन्त भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रकाशवर्ष ने 'छाया' को पाँच प्रकार का कहा है-लौकिक, स्खलित, छेक, मुग्ध और पोटा।

अयुज्यमान अर्थों और पदों की योजना को **'युक्ति'** कहा जाता है। जहाँ अर्थों की योजना में जो शोभा होती है वह पदपद्धति होती है। 'युक्ति' पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण, और प्रबन्ध के सम्बन्ध से छः प्रकार की होती है।

55. *रसार्णवालङ्कारः* 3.37-38 ।

प्रस्तुत अर्थ के प्रकर्ष के लिए यदि परिकर में वक्रिमा आती है तो उस भंगीरूप उक्ति को **'भणिति'** नामक शब्दालंकार कहा जाता है। यह 'भणिति' संभावना, असंभावना, कल्पना, और विरोध भेद से चार प्रकार की होती हैं मनोहारिणी वाणी **'श्रव्यता'** कहलाती है। यह छः प्रकार की होती है-आशीः, नमस्क्रिया, नान्दी, वस्तु, बीज और प्ररोचना। भोज ने आशीः, नान्दी, नमस्कृति, वस्तुनिर्देश, आक्षिप्तिका और ध्रुवा-भेद से 'श्रव्यता' को छः प्रकार का कहा है। प्रकाशवर्ष ने भोज द्वारा स्वीकृत 'आक्षिप्तिका और ध्रुवा' के स्थान पर 'बीज और प्ररोचना' को श्रव्यता कहा है। यह दोनों में भेद है।

अनेकार्थक पदों से या व्युत्पत्ति से अनेक अर्थों का अभिधान यदि होता है तो उसको **'श्लेष'** अलंकार कहते हैं। अनेकार्थक पद या शब्द का अनेकार्थत्व-अभिधावृत्ति से अथवा व्युत्पत्ति से अनेकार्थ-प्रतिपादकतव होता है, वह अनेकार्थ-प्रतिपादकत्व अभिधानियामक संयोगादिकों के अभाव में ही सम्भव होता है। जहाँ अनेकार्थक शब्द प्रयोग होने पर भी संयोग-प्रकरणादि द्वारा एकार्थ में अभिधा नियन्त्रित हो जाती है वहाँ श्लेष नहीं होता है, अपितु वहाँ शाब्दी-व्यंजना होती है। यह 'श्लेष' प्रकाशवर्ष के अनुसार प्रकृति, विभक्ति, पद, वचन, भाषा और प्रत्यय के भेद से छः प्रकार का होता है। 'श्लेष' वस्तुतः दो प्रकार का होता है-अभिन्नपद और भिन्नपदप्राय। शक्यतावच्छेक भिन्न होने पर भी एक प्रकृति-प्रत्ययादिघटित होने से अभिन्न पदों वाला 'अभिन्न-पद' कहलाता है, और प्रकृति-प्रत्ययादि भिन्न होने से 'भिन्नपदप्राय' कहलाता है। अभिन्नपद स्थल में 'अभंगश्लेष' होता है और भिन्नपदप्राय स्थल में 'सभंगश्लेष' होता है। 'सभंग-श्लेष'='भिन्नपद श्लेष' अधिक चमत्कारी होता है, वह कवियों में आदरातिशय से प्राप्त होता है। इसी श्लेष के प्रकृति-प्रत्ययादि से छः भेद कहे गए हैं। यहाँ प्रकाशवर्ष दण्डी और भोज के अति समीप हैं। रुद्रट ने वर्णश्लेष और लिंगश्लेष जोड़कर 'श्लेष' को आठ प्रकार का कहा है, जबकि प्रकाशवर्ष और भोज ने उक्त दोनों श्लेषों का अपने छः भेदों में ही अन्तर्भाव कर दिया है।

काव्य में स्वर, वर्ण-व्यंजन, गति, स्थान, बन्ध और आकार के बन्धन के कारण वर्णों को जो नियमपूर्वक ईप्सित क्रम में रखा जाता है उसको प्रकाशवर्ष **'चित्र'** अलंकार कहते हैं। संस्कृत भाषा में चित्रकाव्य--परम्परा अद्भुत रही है। अतएव काव्यशास्त्रियों ने स्वल्प या अधिक चित्रकाव्य को प्रकाशित किया है, भिन्न लक्षणों द्वारा उपस्थित किया है। भामह ने स्वर, वर्ण, स्थान आदि चित्र के साथ बन्ध-चित्र का भी निरूपण किया है। दण्डी ने भी बन्धचित्र का वर्णन किया है, इन्होंने गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम जैसे बन्धों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है, किन्तु इन्होंने किसी प्राचीन मत के माध्यम से स्वर-स्थान-वर्णनियमकृत वैचित्र्यमूलक भी कुछ शब्दालंकार स्वीकार किए हैं और उनको कष्ट-सम्पाद्य कहा

है[56]। ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यरहित, किन्तु गुण और अलंकार से युक्त को 'चित्रकाव्य' कहा है। जहाँ छन्दोरचना से आकृतिविशेष चित्रित हो उसको कुछ काव्यशास्त्री 'चित्रकाव्य' कहते हैं। भोज और प्रकाशवर्ष तो स्वरादि के बन्धन के कारण होने वाली छन्दोरचना को 'चित्रकाव्य' कहते हैं।

जहाँ शब्द और अर्थ में उपकार्य और उपकारी भाव रहता है वहाँ जो उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है उसको **'औचित्य'** कहा जाता है। कुशाग्र-बुद्धिमानों के बीच जो प्रयोगरूप खण्डन-मण्डन निकषार्थ होता है उसको **'प्रश्नोत्तर'** कहते हैं। इसके व्यापक स्वरूप हैं, किन्तु प्रकाशवर्ष ने इसको छः प्रकार का कहा है-अन्तःप्रश्न, बहिःप्रश्न, बहिरन्तःप्रश्न, पृष्टप्रश्न, उत्तरप्रश्न और जातिप्रश्न। यही प्रकाशवर्ष कहते हैं कि 'प्रश्नोत्तर' के अनेकानेक भेदों को जानने की यदि किसी की इच्छा हो तो ***'विदग्धमुखमण्डन'*** नामक ग्रन्थ को देखें। उनके अनुसार **'प्रहेलिका'** वह है जहाँ प्रश्न रहता है, उत्तर भाषण नहीं रहता है, किन्तु वाक्यार्थ में ही यह दुर्बोध उत्तर विद्वानों द्वारा जाना जाता है। यह वर्णों के द्वारा परिवर्तित, विन्यस्त, लुप्त, व्युत्क्रम और बिन्दुमती होने से पाँच प्रकार की होती है, छठी अर्थ-प्रहेलिका है। 'प्रहेलिका' यद्यपि चामत्कारिक है, किन्तु विद्वानों ने इसको अलंकार की श्रेणी में नहीं रखा है, कारण कि इसमें अनेक आवश्यक गुणों का अभाव रहता है और यह अनेक दोषों से संवलित होती है। फिर भी कवि-परम्परा 'प्रहेलिका' को स्वीकार करती आ रही है। दण्डी ने समागता, वंचिता, व्युत्क्रान्ता, प्रमुषिता आदि सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं को काव्योचित स्वीकार किया है और च्युताक्षर, दत्ताक्षर आदि चौदह प्रहेलिकाओं को काव्य में दुष्ट कहा है[57]। दण्डी ने जिन चौदह प्रहेलिकाओं को दुष्ट कहा है, उनको ही भोज ने अलंकारस्वरूप स्वीकार किया है। प्रकाशवर्ष ने दण्डी और भोज से मिलाजुलाकर छः प्रहेलिकाएँ मानी हैं। जबकि रुद्रट ने भोज और प्रकाशवर्ष द्वारा स्वीकृत मात्राच्युत, बिन्दुच्युत जैसी प्रहेलिकाओं को लेकर ही खण्डन किया है[58]। इसी प्रकार प्रहेलिका का खण्डन विश्वनाथ ने भी अपने साहित्य-दर्पण में किया है[59]। तथापि 'प्रहेलिका' प्रहेलिका ही हैं। आचार्य भामह ने प्रहेलिका को हेय-यमक में समाहित किया है, वे कहते हैं कि 'अनेक धात्वर्थों से गूढ़ रचना नाम से ही 'यमक' संवलित कहलाती है, वस्तुतः उसको 'प्रहेलिका' कहते हैं। उसके उदाहरण रामशर्मा के ***'अच्युतोत्तर'*** काव्य में प्राप्त है'[60]।

---

56. *काव्यादर्शः*, 3.83 ।
57. *काव्यादर्शः*, 3.97-106 ।
58. *काव्यालङ्कारः*, 5.24 ।
59. *साहित्यदर्पणः*, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ 4 ।
60. *काव्यालङ्कारः*, 2.19 ।

'प्रहेलिका' के बाद प्रकाशवर्ष के शब्दालंकारोद्देश के अनुसार **'अनुप्रास'** का लक्षण-विवेचन अपेक्षित था, किन्तु वह ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। उस शब्द-समुदाय की आवृत्ति को, जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न हो। किन्तु रूप एक हो अर्थात् शब्दों का क्रम एक ही हो, **'यमक'** कहते हैं। यह 'यमक' कविजनों की व्युत्पत्ति की कसौटी होती है। यह व्यपेतात्मक, अव्यपेतात्मक और उभयात्मक= व्यपेताव्यपेतात्मक नियत और अनियत स्थानभेद से छः प्रकार का होता है। द्विरभ्यास, त्रिरभ्यास और उभयात्मक=व्यपेताव्यपेतात्मक नियत और अनियत स्थानभेद से छः प्रकार का होता है। द्विरभ्यास, त्रिरभ्यास और चतुराभ्यास पादभेद से पुनः यह अनेक प्रकार का होता है। अर्धाभ्यास=पादद्वयावृत्ति को 'समुद्गक' 'यमक' कहते हैं। इस प्रकार प्रकाशवर्ष ने सात प्रकार के यमक की चर्चा करके कहा है-

'एतेषां तु न कात्स्न्येन प्रभेदा वक्तुमीप्सिताः।
लक्ष्यलक्षणबोधार्थं दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते।।'[61]

'इन सभी के समस्त भेदों का उल्लेख यहाँ ईप्सित नहीं है, अतएव लक्ष्य-लक्षणबोध के लिए दिङ्मात्र ही यहाँ प्रदर्शित हैं।' ऐसा कहने पर भी प्रकाशवर्ष ने 'यमक' के संदर्भ में कुछ भी नहीं कहा है। दिङ्मात्र तो उनको कहना ही था, न कहने का तो प्रश्न ही नहीं है, निश्चित रूप से ग्रन्थ का यह अंश भी लुप्त है।

जहाँ पद-विन्यास गुप्तरूप होता है वहाँ उसको **'गूढोक्ति'** कहते हैं। यह क्रिया, कारक, सम्बन्ध, पाद, और अभिप्राय के भेद से पाँच प्रकार की होती है। प्रकाशवर्षोक्त पंचविधा गूढोक्ति में 'वस्तुगूढोक्ति' को जोड़कर भोज ने 'गूढोक्ति' के छः प्रकार स्वीकार किए हैं।

शब्दालंकारोल्लेखन के पश्चात् वाग्देवी की महिमा का कीर्त्तन करते हुए प्रकाशवर्ष कहते हैं कि 'यह समस्त भुवनत्रय गाढान्धकार से व्याप्त हो जाए, यदि शब्दरूप ज्योति सृष्टिकाल से ही अपना प्रकाश न फैलाती रहे[62]'। यह शब्दरूप ज्योति=वाग्देवी की ही महिमा है कि यह संसार व्यवहार-लोप को प्राप्त करके अन्धकारनिमग्न-सा नहीं हो जाता है। 'ज्योतिर्द्योतनात्'='प्रकाशक तत्त्व ज्योति है अतएव शब्द भी सकलव्यवहारप्रकाशकतया 'ज्योति' है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है-'वाचेवायं ज्योतिषा आस्ते'। इसीलिए शब्दालंकार शब्दरूप ज्योति= वाग्देवी का अलंकारसौंदर्य हैं। शब्दालंकारों में **'ज्योति'** वाग्देवी की मूर्ति है तो **'रीति'** उसके अंगों का सौंदर्य तथा **'वृत्ति'** उसका लावण्य है। **'रचना'** और **'घटना'** वाग्देवी के कुण्डल हैं। **'मुद्रा'** ही उसकी दयामुद्रा है तथा **'छाया'** माल्य है। **'युक्ति'**

---

61. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.64 ।
62. *उपरिवत्*, 3.68 ।

उसकी हारावली तो '**भणिति**' मेखला है। '**श्रव्यता**' कंकणश्रेणी तो '**श्लेष**' और '**चित्र**' उसके नूपुर हैं। '**औचित्य**' देवी का लीलाकमल है तो '**प्रश्नोत्तर**' वास है। '**प्रहेलिका**' पदक है तो '**अनुप्रास**' कंचुक है। '**यमक**' क्रीडाशकुन्त है तथा '**गूढोक्ति**' वाग्देवी की केलिकन्दुक है।

काव्य में '**जाति**' के बिना प्रायः गौरव कहीं भी दिखाई नहीं देता है। '**रीति**' तो काव्य में पेशल है। '**वृत्ति**' उसका लावण्य है। '**रचना**' कविचातुर्य है। '**घटना**' के बिना काव्य दुर्घट हो जाता है। समुद्रत्य अर्थात् '**मुद्रा**' के साथ तो नाम से भी काव्य गाम्भीर्यगुणदायक है। जो काव्य '**छाया**' रहित होता है उसकी वार्ता से भी क्या लाभ? ऐसा मनीषीजन कहते हैं। '**युक्ति**'हीन जो वाक्य हो तो उसकी और क्या? निन्दा होगी। '**भणिति**' वक्रता है। अश्रव्य अर्थात् '**श्रव्यता**' रहित यदि काव्य कहा जाता है तो काव्य में वह नहीं सुना जाता है। चिन्त का संश्लेषणरूप '**श्लेष**' है तथा '**चित्र**' तो चित्र का एक कारण है। अनौचित्य अर्थात् **औचित्य** के अभाव से सहृदयजनों का कोई और दूसरा तिरस्कार क्या हो सकता है? '**प्रश्नोत्तर**' तो नाम से ही सुगोष्ठी में विनोदकर=मनोरंजक होता है। वह '**प्रहेलिका**' लोगों से भरी भीड़ में भी उपयोगी होती है। लवण के बिना भोजन, त्याग से रहित धन और '**अनुप्रास**' से विहीन काव्य का कौन अभिनन्दन करता है? उतना आनन्द न तो प्रियालिंगन और न अमृतरसप्रवाह देता है जितना कि अक्लिष्ट '**यमक**' युक्त वाणी आनन्द देती है। गूढ़ागूढ़चतुर्थादिवाक्य कन्दर्प की शान्ति के लिए होता है। वाग्देवी विचित्र है-'**विचित्रा हि सरस्वती**'।

इसके उपरान्त, प्रकाशवर्ष काव्य में यथास्थान पात्रानुकूल और विषयानुकूल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रयोग का निर्णय करते हुए कहते हैं कि लोक में बहुमत है कि काव्यगोष्ठियों में न तो अत्यन्त संस्कृत और न अत्यन्त देशी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, यथासमय वक्तव्य भाषा का ही प्रयोग होना चाहिए। लाटवासी लाटी सुनते हैं, संस्कृतद्वेषी प्राकृत सुनते हैं। गुर्जर अपनी अपभ्रंश से ही तुष्ट रहते हैं, अन्य से नहीं। अन्त में, प्रकाशवर्ष निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि काव्य में शब्दों का प्रयोग करने से पूर्व शब्द का परिज्ञान चार प्रकार से करना चाहिए-कौन शब्द ग्राह्य-उपादेय है? कौन अग्राह्य-अनुपादेय अथवा त्याज्य है? कौन शब्द प्रयोग के पश्चात् सुन्दर लगेगा? तथा कौन शब्द किस सम्यक् या उचित या उपयुक्त स्थान पर होना चाहिए? जो कवि इन विभिन्न प्रकारों से शब्द का विवेचन करके प्रयोग करता है उसकी रचना निर्दोष होती है।

चतुर्थ परिच्छेद 'अर्थालंकारनिर्णय' है। अर्थ के उत्कर्ष के लिए एकमात्र हेतु

'अर्थालंकार' हैं ये सचेतन-चैतन्य और मनोहर हैं तथा अनन्त हैं। ये अट्ठाईस प्रकार के हैं-1. जाति, 2. हेतु, 3. अहेतु, 4. सूक्ष्म, 5. सार, 6. समाहित, 7. भाव, 8. विभावना, 9. अन्योन्य, 10. विरोध, 11. विषम, 12. संभव, 13. प्रत्यनीक, 14. व्यतिरेक, 15. असंगति, 16. लेशाभिधान, 17. परिवृत्ति, 18. निमीलन, 19. वितर्क, 20. स्मरण, 21. भ्रान्ति, 22. अभाव, 23. आगम, 24. उपमान, 25. अनुमान, 26. प्रत्यक्ष, 27. संशय, और 28. अतिशय।

अर्थालंकारवादियों का मत है कि रूपक, उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्यशोभा के निष्पादक हैं। उनका तर्क है कि काव्य-जनित आनन्दानुभूति वस्तुतः अर्थप्रतीति के बाद ही होती है, अतः अर्थाश्रित चमत्कार ही उस आनन्दानुभूति का अव्यवहित उपकारक हो सकता है। इसप्रकार अर्थालंकार का महत्त्व असन्दिग्ध है।

भामह ने छत्तीस अर्थालंकारों का निरूपण किया है-अतिशयोक्ति, अनन्वय, अपह्नुति, अप्रस्तुत- प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, आशीः, उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षावयव, उदात्त, उपमा, उपमारूपक, उपमेयोपमा, ऊर्जस्वी, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, पर्यायोक्त, परिवृत्ति, प्रेयः, भाविक, यथासंख्य, रसवत्, रूपक, विभावना, विरोध, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, श्लेष, सन्देह, समासोक्ति, समाहित, संसृष्टि, सहोक्ति और स्वभावोक्ति।

दण्डी ने इनमें कुछ घटा-बढ़ाकर सैंतीस अलंकार स्वीकार किए हैं। वामन ने केवल उनतीस अर्थालंकार ही निरूपित किए हैं, जिनमें नाम इस प्रकार हैं-अतिशयोक्ति अनन्वय, अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, उत्प्रेक्षा, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, परिवृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, यथासंख्य, रूपक, वक्रोक्ति, विभावना, विरोध, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, श्लेष, सन्देह, समासोक्ति, समाहित, संसृष्टि, और सहोक्ति।

रुद्रट ने छब्बीस और उद्भट ने इकतालीस अलंकार स्वीकार किए हैं। मम्मट ने इकसठ अर्थालंकार स्वीकार किए हैं। जयदेव ने इक्यासी अर्थालंकार माने हैं। विश्वनाथ ने सत्तर अर्थालंकार निरूपित किए हैं। अप्पय दीक्षित ने सब मिलाकर एक सौ अठारह अलंकार माने हैं।

भोज ने चौबीस अर्थालंकार स्वीकार किए हैं जिनमें से उत्तर, निदर्शना, भेद और अर्थापत्ति-ये चार अलंकार प्रकाशवर्षोक्त अर्थालङ्कारों में अप्राप्त हैं, किन्तु भोज के चौबीस के अतिरिक्त प्रकाशवर्ष ने सार, विषम, प्रत्यनीक, व्यतिरेक, असंगति, लेशाभिधान, संशय, और अतिशय-ये आठ अलंकार और स्वीकार किए हैं। जिनमें से भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में सार और व्यतिरेक अलंकारों को दिया है। इस प्रकार प्रकाशवर्ष ने अट्ठाईस अर्थालंकार माने हैं।

विभिन्न अवस्थाओं में वस्तुओं के जो-जो रूप उनकी प्रकृति के अनुसार प्रकट

होते हैं उनको **'जाति'** कहते हैं। स्वरूप, आश्रय और हेतु-ये 'जाति' के भेद के कारण हैं। संस्थान, अवस्थान, व्यापार, वेष आदि 'स्वरूप' कहे जाते हैं। बालक, वृद्ध, विदग्धा स्त्री, तिर्यक्-पक्षी, हीनजाति आदि-ये पात्र 'आश्रय' हैं। तथा देश, काल, कला-शक्ति, साधन-ये हेतु हैं। इस प्रकार स्वरूप, आश्रय और हेतु के कारण 'जाति' के बारह भेद हैं। दण्डी ने 'जाति' को 'स्वभावोक्ति' से अभिन्न कहा है। भामह ने **'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते',**[63] कहकर जाति या स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में अपनी असम्मति व्यक्त की है। कुन्तक ने तो 'स्वभावोक्ति' अलंकार मानने वालों का उपहास भी किया है-

'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते।।'[64]

'जिन अलंकारशास्त्रियों के लिए स्वभावोक्ति=स्वभाव का कथन भी अलंकार है, उनके लिए फिर अलंकार्यरूप से कौन सी दूसरी वस्तु शेष रह जाती है, क्योंकि स्वभाव का कथन ही तो अलंकार्य होता है।' किन्तु ऐसा नहीं है, कारण कि 'जाति' अलंकार में विशेषतार्थ स्वरूप, आश्रय और हेतु-ये तीन कारण माने गए हैं। इन तीन के भी विभिन्न प्रकार हैं, जिन अवस्थाओं में 'जाति' सौन्दर्य-विशिष्ट हो जाती है। अतएव मम्मटादि ने उद्भट के सिद्धान्तानुसार जाति या स्वभावोक्ति को अलंकार स्वीकार किया है।

प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का जो कार्य निबन्धन=कारण होता है वह वहाँ **'हेतु'** कहा जाता है। यह 'हेतु' छः प्रकार का होता है-प्रवर्तक, निवर्तक, अभाव, ज्ञापक, प्रयोजक तथा बहुप्रपंचरूप चित्र हेतु। भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश-इन तीनों अलंकारों को, इनमें चमत्कार नहीं होने से अलंकार के रूप में स्वीकार नहीं किया है; जबकि दण्डी ने इनको वाणी के उत्तम भूषण कहा है-'हेतुश्च **सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्',**[65]। दण्डी का मन्तव्य यह है कि इनमें अलंकार होने की योगयता है, इनसे अर्थ की अलंकृति होती है, फलतः इनमें चमत्कार है, अतः ये अलंकाररूप में मान्य हैं कहीं भी पत्र-वशावन्ध्य, कहीं भी अर्थान्तरवाधित संकेत तथा आकार से अर्थ लक्षित होने पर **'सूक्ष्म'** अलंकार होता है। सूक्ष्मगुण के कारण अर्थात् सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति कराने से इसको 'सूक्ष्म' कहा जाता है। प्रत्यक्ष सूक्ष्मालंकार अप्रत्यक्ष होने के कारण भिन्न है। यह सूक्ष्मालंकार अभिधीयमान=वाच्य और प्रतीयमान भेद से दो प्रकार का होता है। ये दो भी इंगित, आकार और उभयलक्ष्य होने से सूक्ष्मालंकार छः प्रकार का होता है। कुछ

63. *काव्यालङ्कारः,* 2.93 ।
64. वक्रोक्तिजीवितम्, 1.11 ।
65. *काव्यादर्शः,* 2.235 ।

आचार्य सूक्ष्मालंकार को 'भाव' नामक अलंकार में अन्तर्भूत करते हैं, किन्तु भोज और प्रकाशवर्ष दोनों में अन्तर स्वीकार करते हैं। 'भाव' में वेद्य सूक्ष्म अवश्य होता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष होता है, जबकि सूक्ष्म का विषय अप्रत्यक्ष होता है, उसकी कल्पना कर ली जाती है।

कार्य करनेवाला होने पर भी जो कार्य अकृत रहता है अथवा कार्य सिद्ध नहीं होता है तो उसको अकृतकार्य **'अहेतु'** कहते हैं। असार के निरास द्वारा सार का संग्रहण करना **'सार'** कहा जाता है। यह धर्मरूप और धर्मीरूप भेद से दो प्रकार का होता है। 'सार' का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है-

'यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेद् सारम्।।'[66]

"जहाँ समुदाय में से एक-एक अंश गुणवत्तर और अन्यत्र उत्कृष्ट बतलाकर पृथक् किया जाता है वह 'सार' कहलाता है'। जैसे-'राज्ये सारं वसुधा......' इत्यादि'।" मम्मट ने रुद्रट के लक्षण का सारांशस्वरूप लक्षण दिया है-**'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः',** यथा-**'राज्ये सारं वसुधा....'** इत्यादि[67], रुय्यक, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, विश्वनाथ, विश्वेश्वर आदि ने मात्र 'परावधिः' शब्द को छोड़कर मम्मट का लक्षण अक्षरशः स्वीकार किया है। शोभाकर मिश्र ने नाममात्र नवीन रखकर 'सार' के स्थान पर 'वर्धमान' नामक अलंकार स्वीकार किया है, जबकि इसका लक्षण और भेद 'सार' से अक्षरशः समान है।

क्रिया=कार्य के प्रारम्भ में जो अप्रयत्नपूर्वक अथवा प्रयत्नपूर्वक सहकारी कारण=साधन की प्राप्ति होती है वह **'समाहित'** होता है। वह दैवकृत और अदैवकृत दो प्रकार का होता है। किन्तु अप्रयत्नपूर्वक दैवकृत, प्रयत्नपूर्वक दैवकृत, अप्रयत्नपूर्वक अदैवकृत और प्रयत्नपूर्वक अदैवकृत-भेद से यह चार प्रकार का होता है। भामह ने 'समाहित' का लक्षण नहीं दिया है, मात्र उदाहरण दिया है। दण्डी ने इसका लक्षण दिया है। परवर्ती आलंकारिकों ने 'समाहित' को 'समाधि' अलंकार के रूप में ग्रहण किया है, 'समाहित' तो उनके अनुसार 'भावशान्ति' में होता है। किन्तु प्रकाशवर्ष के अनुसार 'अभीष्ट पदार्थ के चिन्तन के अनुकूल क्रियाओं का जो सम्पादन होता है वह **'भाव'** कहा जाता है। भामह और दण्डी ने 'भाव' अलंकार नहीं माना है, किन्तु रुद्रट ने इसको माना है। उनके अनुसार 'भाव' का लक्षण है-

66. *काव्यालङ्कारः,* 7.96 ।
67. *काव्यप्रकाशः,* सूत्र 189 ।

'यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं न भावोऽसौ।।'[68]

जहाँ पर प्रसिद्ध हेतु-कारण का त्याग करके जो कोई भी दूसरा हेतु-कारण स्वाभाविक अथवा कविकल्पित निरूपित किया जाता है उसको **'विभावना'** अलंकार कहते हैं। पद और अर्थ के बीच शब्दतः अथवा अर्थतः अथवा उभयतः जो उपकार्य-उपकारक भाव रहता है उसको कोविद **'अन्योन्य'** अर्थालंकार कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है-वाच्य-अन्योन्य, प्रतीयमान-अन्योन्य और प्रतीयमानाभिधीयमान--अन्योन्य। इनके अतिरिक्त अन्योन्यचूडिका, अन्योन्य-भ्रान्ति और अन्योन्यात्मकता भी तीन भेद हैं। भामह और दण्डी ने 'अन्योन्यालंकार' स्वीकार नहीं किया है। रुद्रट ने इसको स्वीकार किया है[69]। पदार्थों की 'असंगति' यदि उत्कर्षाधायिनी हो तो **'विरोध'** अलंकार कहा जाता है। 'असंगति' पदार्थों में परस्पर अपेक्षाओं की पूर्ति में असमर्थतां है, योग्यता का अभाव है। यह तात्पर्यानुपपत्ति है। कविपुंगव क्रियापदों के 'विरोध' को भी 'विरोध' कहते हैं। रुद्रट ने विरोध के चार सजातीय और पाँच विजातीय भेदों को स्वीकार किया है। दण्डी ने विरोध, असंगतिमूलक विरोध, और श्लेषकृत विरोध-ये विरोध स्वीकार किए हैं। भोज ने असंगति, प्रत्यनीक, विषम और अधिक भेद से विरोध चार प्रकार का स्वीकार किया है, किन्तु रुद्रट ने अधिक, असंगति और विषम को भिन्न अलंकार के रूप में मान्यता दी है। इसी प्रकार प्रकाशवर्ष ने असंगति, प्रत्यनीक और विषम को भिन्न अलंकार माना है। प्रकाशवर्ष पदार्थों की असंगति को ही 'विरोध' कहते हैं। जहाँ कार्य असमान कारण से उत्पन्न हो उसको **'विषम'** अलंकार कहते हैं। इसका प्रयोग प्रायशः सौंदर्य का अवलम्बन करता है। रुद्रट ने इसको अनेक प्रकार का कहा है। उनके अनुसार-"जहाँ दो पदार्थों के बीच सम्बन्ध के अभाव में भी दूसरों के मत में उस सम्बन्ध को मानकर वक्ता उस सम्बन्ध का खण्डन करता है वहाँ 'विषम' अलंकार होता है"[70]। विश्वनाथ के अनुसार 'यदि कार्य और कारण के गुण परस्पर विरुद्ध हों तो वहाँ 'विषम' अलंकार होता है'। प्रकाशवर्ष और विश्वनाथ के लक्षणों में समानता है। भोज 'विषम' को 'विरोध' का एक भेद स्वीकार करते हैं। जो भी हो 'विषम' स्वतंत्र अलंकार होते हुए भी उसमें 'विरोधमूलता' तो स्पष्ट ही है।

किसी कार्य के अनेक कारणों को देखकर 'यह ऐसा होगा'-यह समझना **'सम्भव'** अलंकार है। यह 'संशय' अथवा 'सन्देह' नहीं है, क्योंकि इसमें 'होगा या नहीं'-ऐसी दोलायमान स्थिति नहीं रहती है। यह 'वितर्क' भी नहीं है, क्योंकि

68. *काव्यालङ्कारः*, 7.38 ।
69. *काव्यालङ्कारः*, 7.91 ।
70. *काव्यालङ्कारः*, 7.47 ।

इसमें व्याप्यारोप का अभाव है। यह 'भ्रान्ति' भी नहीं है, क्योंकि इसमें बाध नहीं होता है। इसीलिए 'सम्भव' स्वतन्त्र अलंकार है। यह विधि, निषेध, उभय और अनुभयरूप चतुर्विध विषयक होता है। ईप्सितार्थ=अभीष्ट अर्थ का कारण जो प्रतिकूल फल की उत्पत्ति करता है तो उसको मनीषी-जन **'प्रत्यनीक'** कहते हैं। भोज 'प्रत्यनीक' को 'विरोध' का एक भेद स्वीकार करते हैं। यद्यपि प्रकाशवर्ष-रुद्रटादि ने 'प्रत्यनीक' को स्वतन्त्र अलंकार माना है, किन्तु वह 'विरोधमूलक' ही है। जहाँ पर उपमान और उपमेय का साधर्म्य=सादृश्य शब्दतः कहकर वैधर्म्य=भिन्नता को भी कहा जाता है उसको **'व्यतिरेक'** कहते हैं। यह सात प्रकार का है-एक, उभय, सदृश, असदृश, स्वजाति, व्यक्ति और रूपकप्रकृति। 'व्यतिरेक'='वि+अतिरेक'='गुणविशेष+अतिरेक--आधिक्य या उत्कर्ष'='गुणाधिक्य या गुणोत्कर्ष' अर्थात् उपमान से उपमेय का गुणविशेष के आधार पर आधिक्य या उत्कर्ष ही 'व्यतिरेक' है। क्वचित् उपमान से उपमेय का अपकर्ष भी 'व्यतिरेक' कहलाता है। 'व्यतिरेक' अलङ्कार में उपमेय का आधिक्य या उत्कर्ष तब व्यक्त होता है जब उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष-दोनों वर्णित हों, या उपमान का अपकर्षमात्र ही वर्णित हो, या उपमेय का उत्कर्षमात्र ही वर्णित हो, अथवा दोनों ही ग्रहण नहीं हो। इसी भावना से दण्डी का लक्षण है-

'शब्दोपात्ते प्रतीते का सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते।।'[71]

भोज ने किंचित् शब्दान्तर से दण्डी के लक्षण का ही अनुसरण किया है और उन्होंने स्वजाति, व्यक्ति की उपाधि, एक, उभय, सादृश्य और वैसादृश्य भेद से व्यतिरेक को छः प्रकार का स्वीकार किया है। प्रकाशवर्ष ने लक्षण और भेद-दोनों में ही भोज का अनुसरण किया है, कहीं शब्दों का भेद है-अर्थ समान है, किन्तु व्यतिरेक के छः भेदों में 'रूपक-प्रकृति' नामक सातवां भेद जोड़ दिया है।

जहाँ कारण और कार्य के बीच भिन्न-भिन्न देशव्यवस्था होने पर फल प्रकट हो तो वहाँ **'असंगति'** अलंकार होता है। दण्डी और भोज ने 'असंगति' को 'विरोध' का ही एक भेद माना है, किन्तु रुद्रट ने इसको स्वतंत्र अलंकार स्वीकार किया है। रुद्रट 'असंगति' के लिए कार्य और कारण में स्थानभिन्नता को स्वीकार करते हैं। प्रकाशवर्ष भी यही कहते हैं। विश्वनाथ ने भी ऐसा ही कहा है, उनका तो यह भी कथन है कि 'असंगति' विरोधालंकार का अपवाद है, अतः विरोधालंकार वहीं माना जाता है जहाँ एक देश में ही स्थित वस्तुओं का विरोध होता है। भिन्न देश के विरोध में 'असंगति' ही मानी जाती है, अन्यथा इसका कहीं उदाहरण ही नहीं रहेगा[72]। जो भी हो, 'असंगति' अलंकार भी विषम और

71. *काव्यादर्शः*, 2.180 ।
72. *साहित्यदर्पणः*, दशम परिच्छेद ।

प्रत्यनीक की तरह विरोधमूलक ही है। जहाँ दोष का गुण हो जाना अथवा गुण का दोष हो जाना-इस प्रकार गुण और दोष-दोनों का संश्लेषण=मिश्रण रहता है उसको **'लेश'** अलंकार कहते हैं। भामह ने 'लेशालंकार' स्वीकार ही नहीं किया है। दण्डी ने 'लेश' को स्वीकार करते हुए द्विविध लक्षण प्रस्तुत किए हैं-'यदि कुछ-कुछ प्रकट होते हुए वस्तुरूप को चतुरता से छिपा लिया जाता है, तो 'लेश' होता है' तथा 'स्तुति के व्याज से निन्दा और निन्दा के व्याज से स्तुति-स्थलों में 'लेश' होता है'। दण्डी ने 'लेश' की व्याख्या व्याजोक्ति से की है, अतएव उन्होंने 'व्याजस्तुति' अलंकार पृथक् नहीं स्वीकार किया है। भोज और प्रकाशवर्ष ने दण्डी की भांति 'लेश' स्वीकार करने पर 'व्याजस्तुति' को नहीं माना है, किन्तु संस्कृत अलङ्कारशास्त्र में 'व्याजस्तुति' भामह से लेकर विश्वेश्वर तक स्वीकार्य है।

जहाँ द्रव्य और गुण में से अन्य का अन्यत्र विन्यास होता है उसको **'परिवृत्ति'** अलंकार कहते हैं। यह व्यत्यय, विनिमय और उभयवाक्यमिश्रा भेद से तीन प्रकार का होता है। यदि एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का तिरस्कार हो तो उसको **'निमीलित'** अलंकार कहते हैं। यह पिहित, अपिहित, तद्गुण, और अतद्गुण रूप से चार प्रकार का होता है। भामह और दण्डी ने 'मीलित' अलंकार नहीं माना है। सबसे पहले 'मीलित' की कल्पना रुद्रट ने की है। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने रुद्रट का ही अनुसरण किया है। शोभाकर 'मीलित' और 'सामान्य' को एक ही अलङ्कार मानते हैं। संशय और निर्णय के बीच होने वाला निर्णायकों का जो ऊह होता है वह **'वितर्क'** कहा जाता है। यह निर्णायात्मक और अनिर्णयात्मक भेद से दो प्रकार का होता है। भामह, दण्डी और रुद्रट जैसे आलंकारिकों ने 'वितर्क' अलंकार स्वीकार नहीं किया है। भोज ने सबसे पहले इसकी कल्पना की है। प्रकाशवर्ष ने भोज का अनुसरण किया है। सादृश्य, अदृष्ट, चिन्तन आदि के कारण जो पहले अनुभव में आए हुए पदार्थों की स्मृति होती है उसको **'स्मरण'** अलंकार कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान, स्वप्नस्मृति, व्यक्तिवर्जितास्मृति भी 'स्मरण' ही है। 'स्मरण' अनुमान नहीं है, क्योंकि यहाँ व्याप्ति का अभाव रहता है। यह 'प्रेयः' नहीं है, क्योंकि 'प्रेय' का विषय वह स्मृति होती है जो सादृश्य से भिन्न कारण से उत्पन्न होती है। आलंकारिको का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'स्मृति' यदि सादृश्यमूलक होती है तो 'निदर्शना' होती है; यदि सादृश्यमलक नहीं होती है, किन्तु यदि व्यंग्य होती है तो वह 'भाव' कहलाती है; यदि दोनों नहीं होती है तो वस्तुमात्र कहलाती है। भामह, दण्डी, वामन, उद्भट आदि आचार्यों ने 'स्मरणालंकार' का विवेचन नहीं किया है। इन आचार्यों ने स्मृति को भी 'भावालंकार' माना है।

विपर्यय-ज्ञान अर्थात् जो जैसा नही है उसको वैसा समझना **'भ्रान्ति'** है। यह तीन प्रकार की होती है-1. अतत्त्व में तत्त्वकारिणी, 2. तत्त्व में अतत्त्वरूप, और 3.

उभयरूपा। इनमें से प्रथम बाधिता, अबाधिता और कारणबाधिता भेद से तीन प्रकार की होती है। द्वितीय भी त्रिविधा है-विहानार्था, संग्रहार्था और उपेक्षार्था। भामह, वामन, और उद्भट 'भ्रान्ति' अलंकार के विषय में मौन हैं। दण्डी ने 'भ्रान्तिमान्' को उपमालंकार के अन्तर्गत 'मोहोपमा' नाम से स्वीकार किया है। 'मोहोपमा' प्राचीन नाम है, अग्निपुराण में इसको 'भ्रान्तिमान्' कहा है। वस्तुतः 'भ्रान्तिमान्' के प्रवर्तक रुद्रट हैं। 'अतस्मिंस्तदिति निश्चयो भ्रान्तिः'=जो जैसा नहीं है उसको वैसा समझना 'भ्रान्ति' है। भ्रान्ति ही विपर्यय है, यह संशय, तर्क आदि नहीं है। अतएव भोज और प्रकाशवर्ष ने विपर्ययज्ञान को 'भ्रान्ति' कहा है। पदार्थों का असत्त्व=न होना **'अभाव'** कहलाता है। यह प्रागभाव, प्रध्वन्साभाव, अत्यन्ताभाव और कल्पिताभाव भेद से चार प्रकार का होता है। यहाँ 'अन्योन्याभाव' की चर्चा नहीं हुई है, मात्र 'संसर्गाभाव' ही वर्णित है। कुछ नैयायिक 'संसर्गाभाव' के तीन भेद करते हैं-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव[73]। किन्तु कुछ नैयायिक 'संसर्गाभाव' को चार भागों में विभक्त करते हैं-प्रागभाव, पश्चादभाव, त्रैकालिक-अभाव, और किंचित्कालिक अभाव[74]। 'पश्चादभाव' को पूर्ववर्ती विवेचकों ने 'प्रध्वंसाभाव' और 'त्रैकालिक-अभाव' को 'अत्यन्ताभाव' कहा है। चतुर्थ 'किंचित्कालिक अभाव' को कदाचित् 'सामयिकाभाव' शब्द से भी कहा जाता है। पूर्ववर्ती विवेचकों ने 'सामयिकाभाव' का 'अत्यन्ताभाव' में ही अन्तर्भाव किया है[75] किन्तु परवर्त्ती नैयायिकों के अनुसार 'सामयिकाभाव' उत्पादविनाशशाली 'अत्यन्ताभाव' से अतिरिक्त है, जहाँ भूतल पर पूर्वस्थित घटादि को हटा दिया जाता है वहाँ जब कहा जाता है-'भूतले घटो नास्ति' तब 'सामयिकाभाव' ही होता है, 'अत्यन्ताभाव' नहीं होता है,'[76]। यह 'सामयिकाभाव' ही प्रकाशवर्ष का 'कल्पिताभाव' है, प्रकाशवर्ष ने परवर्त्ती नैयायिकों का ही अनुसरण किया है।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ के साधन जो आप्तवचन हैं उनको **'आगम'** कहते हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय के भेद से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सम्बन्धी शास्त्ररूप चार प्रकार के 'आगम' कहे जाते हैं। धर्म और मोक्ष-सम्बन्धी शास्त्र 'अदृष्टार्थ आगम' है तथा अर्थ और काम-सम्बन्धी शास्त्र 'दृष्टार्थ आगम' है। जिनका अर्थ=प्रयोजन दृष्ट अर्थात् इसी लोक में देखा गया होता है उनको 'दृष्टार्थ' कहते हैं तथा जिनका अर्थ=प्रयोजन अदृष्ट अर्थात् इस लोक में नहीं दिखाई देता, जैसे-स्वर्गादि उनको 'अदृष्टार्थ' कहते हैं। **'धर्मागम'** प्रवृत्तिरूप=विधिरूप और निवृत्तिरूप=निषेधरूप भेद से दो प्रकार का होता है। **'अर्थागम'** पित्र्य, नव और भूतपूर्व -

73. द्रष्टव्य --- *तर्कसंग्रहः, तर्ककौमुदी, भाषापरिच्छेदः* आदि।
74. द्रष्टव्य --- *वैशेषिकसूत्रविवृत्तिः* आदि।
75. द्रष्टव्य --- *नीलकण्ठी* आदि।
76. द्रष्टव्य --- *वैशेषिकसूत्रविवृत्तिः*, 9.1.5 ।

इन त्रिविध अर्थ से सम्बन्धित होता है। कुल-परम्परा से प्राप्त अर्थ 'पित्र्य' होता है, जो आठ प्रकार का होता है-विद्या, भूमि, हेम, पशु, भाण्ड, उपस्कर, धान्य और मित्र। स्वार्जित अर्थ '**नव**' होता है, जो पूर्वोक्त आठ अर्थों में कलत्र और पुत्र जोड़कर दस प्रकार का होता है। नष्ट हुआ जब प्राप्त होता है वह अर्थ 'भूतपूर्व' होता है, जो विद्यादि आठ अर्थों से युक्त होता है। इनमें जो विद्या-कलत्र-पुत्रादि रूप 'नव' अर्थात् 'अर्जित अर्थ' है, इसका रक्षण, वर्धन और उपयोग भी 'अर्थ' ही है। 'अर्थ' के अर्जन में विनयस्कन्ध, वार्तास्कन्ध, व्यवहारस्कन्ध, रक्षास्कन्ध, मन्त्रस्कन्ध, उपायस्कन्ध, विक्रमस्कन्ध, युद्धस्कन्ध, उपनिषत्स्कन्ध और प्रशमस्कन्ध-स्वरूप दस 'उपायस्कन्ध' होते हैं। अर्थार्जन के उपरान्त उसका 'उपयोग' होता है, एक से दस उपयोग होते हैं। कहीं कार्य, कहीं वैरनिवृत्ति, कहीं मान, तो कहीं कीर्ति ही 'उपयोगनिबन्धन' होता है। इस प्रकार अर्थ का अर्जन, उसके उपाय और उसके उपयोग को तत्त्वतः जिससे जानते हैं वह सब '**अर्थागम**' कहलाता है। स्त्री और पुरुष का संयोग कन्दर्प-ललित होता है अतएव 'काम' कहा जाता है। वहाँ एकत्र अभियुक्त होने पर उसके स्त्री और पुरुष भेद से दो प्रकार होते हैं। उन दोनों,-कामक्रीड़ा, चातुरी, आवर्जन चाहने वालों,- के शास्त्र को '**कामागम**' कहते हैं। आत्मा के बन्धन के छेद-उच्छेद से जो अशरीरावस्था की स्थिति होती है वह 'मोक्ष' कहलाता है। मोक्ष-प्राप्ति हेतु उपायों के लिए जो शास्त्र होता है उसको '**मोक्षागम**' कहते हैं। भोज और प्रकाशवर्ष के द्वारा आगम=शास्त्र को भी 'अलंकार' कहा जाना एक नई उद्भावना है जो चमत्कारिणी है।

जहाँ दृष्टार्थ के सादृश्य से अदृष्टार्थ की प्रतीति होती है उसको '**उपमान**' अलंकार कहते हैं। प्रतिबिम्ब को भी देखकर प्रतिबिम्बी की प्रतीति होती है अतः प्रतिबिम्ब भी 'उपमान' कहा जाता है। 'रूप' अथवा 'आलेख्य' को 'उपमान' ही कहते हैं। 'मुद्रा' भी स्वनिमित्त वस्तु के कारण 'उपमान' से भिन्न नहीं है। प्रकाशवर्ष ने मुद्रालंकार का अन्तर्भाव 'उपमानालंकार' में ही किया है। जहाँ अविनाभाव सम्बन्ध से लिंग के साथ लिंगी का जो ज्ञान होता है उसको '**अनुमान**' अलंकार कहते हैं। इन्द्रिय और पदार्थ के समायोग अथवा सन्निकर्ष से जो ज्ञात होता है उसको '**प्रत्यक्ष**' अलंकार कहते हैं। यह अर्थ-पंचक भेद से पांच प्रकार का होता है। रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द-ये अर्थ-पंचक हैं, जो क्रमशः चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा और श्रोत्र-इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ या विषय हैं, तदनुसार ही चाक्षुष, घ्राणज, रासन, त्वाच, और श्रोत्रज-ये पांच प्रकार के 'प्रत्यक्ष' हैं। भारतीय दर्शन में 'प्रमाणमीमांसा' एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पक्ष है। दार्शनिक पक्ष को अलंकार-स्वरूप देने का श्रेय साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम भोज को जाता है। भोज के बाद प्रकाशवर्ष ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अलंकार कहा है।

इसके बाद अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानन्द' में प्रत्यक्षादि की अलंकारों में गणना की है। शेष अलंकारशास्त्री इस विषय में सर्वथा मौन हैं।

जहाँ वस्तुओं में अतिसादृश्य के कारण संदेह हो उसको '**संशयालंकार**' कहते हैं। यह उपमा-सहोदर है। दण्डी ने इसको 'संशयोपमा' कहा है[77]। लोकवृत्त का अतिक्रमण करने से जो असम्भाव्य वर्ण्य कहा जाता है, जो 'अत्युक्ति' पद से कहा जाता है उसको '**अतिशय**' अथवा 'अतिशयोक्ति' अलंकार कहते हैं। रुद्रट ने 'अतिशयोक्ति' अलंकार न कहकर 'अतिशय' वर्ग स्वीकार किया है जिसमें पूर्व विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु-ये बारह अलंकार आते हैं। उनके अनुसार जहाँ पदार्थ और उसके धर्म की प्राकृतिक व्यवस्था प्रसिद्धि के विपरीत रहती हैं वहाँ उसकी यही अतिलोकता या लोकातीतता 'अतिशय' कहलाती है[78]। भामह किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ के बोधक वचन को 'अतिशयोक्ति' कहते हैं[79]। दण्डी भी एक विशेष वर्ण्य की लोकोत्तरवर्णना की इच्छा को 'अतिशयोक्ति' मानते हैं[80]। भोज दण्डी के शब्दों को यथावत् दुहराते हैं[81]। अतएव प्रकाशवर्ष लोकातीत=अलौकिक वर्ण्य-असम्भाव्य वर्ण्य के कथन को 'अतिशयोक्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'अतिशयसामान्य' लोकातीत-लोकोत्तर-अलौकिक-प्रसिद्धिविपरीत अथवा असम्भाव्य ही कहा जाता है। यह 'अतिशयोक्ति' ही समग्र वक्रोक्ति=अलंकारप्रपंच है। इससे अर्थ में रमणीयता आती है, वाणी में चमत्कार आता है। यह प्रायः गुणों और क्रियाओं में रहती है, क्योंकि कहीं भी द्रव्य अथवा जाति का अतिशय नहीं होता है। जो प्रभावातिशय है, जो अनुभवनात्मक है और अन्योन्यातिशय है-ये सब भी अतिशय से भिन्न नहीं हैं। अतएव यह 'अतिशय' अन्य अलंकारों का भी एकमात्र आश्रय है। इस अतिशयोक्ति को वागीश्वरों की पूज्य कहा गया है[82]।

निष्कर्ष में प्रकाशवर्ष कहते हैं कि ये अर्थालंकार तो कविसभा में सम्मान पाने के इच्छुकजनों के द्वारा वाच्य-अभिधेय हैं। काव्य में इनका सदा सम्यकरूपेण उदारबन्धपूर्वक मधुरादि गुणों से नियोजन करना चाहिए। पीयूषप्रस्रविणी श्रुतियों से सुन्दर भी अन्य-अन्य से प्रमोद में रस ग्रहण कर विदग्ध-जन प्रायः सभी में भी अर्थविशेष के प्रति भावनापरायण होता है।

पञ्चम परिच्छेद 'रतिप्रपंच और शृंगारव्यक्ति' है। यह परिच्छेद ही नहीं, अपितु इससे पूर्व भी ग्रन्थ अपूर्ण है अर्थात् मध्य में से लुप्त है। रस-निरूपण से पूर्व

77. *काव्यादर्शः*, 2.26 ।
78. *काव्यालङ्कारः*, 9.1 ।
79. *काव्यालङ्कारः*, 2.81 ।
80. *काव्यादर्शः*, 2.220 ।
81. *सरस्वतीकण्ठाभरणम्*, 4.81 ।
82. *उपरिवत्*, 4.81-84 ।

प्रकाशवर्ष ने उभयालंकार भी कहे होंगे जिनकी प्रतिज्ञा उन्होंने तृतीय परिच्छेद के आरम्भ में की है। अस्तु।

यत्किंचित् जो उपलब्ध है उसमें सर्वप्रथम धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार और मोक्षशृंगार-इस चतुर्विध शृंगार में विभावानुभावसंचारी-भावों के संयोग को क्रमपूर्वक कहने की सूचना है। तदुपरान्त रस-निरूपण है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से व्यक्त स्थायीभाव **'रस'** कहा जाता है। विभावादि के समवाय में जो उद्भूत होता है, जो चित्त में चिरकालपर्यन्त अवस्थित रहता है वह **'स्थायीभाव'** कहा जाता है। इससे भिन्न जो स्वभावतः बार-बार अस्थायी जन्म लेता है, जो स्थायीभाव के साथ रस-निष्पत्ति में विचरण करता है वह **'व्यभिचारीभाव'** कहलाता है। जो पदार्थों का ज्ञान कराते हैं उनको **'विभाव'** कहते हैं। विभावित अर्थों की अनुभूति **'अनुभाव'** कहलाता है। जो सत्त्व-गुण से उत्पन्न विकार हैं वे **'सात्त्विक-भाव'** कहे जाते हैं। भोज के अनुसार विभाव=आलम्बन और उद्दीपनरूप विभाव, हाव-भाव आदि अनुभाव, स्तम्भ आदि सात्त्विकभाव तथा स्मृति आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से 'रस' का उद्भव मात्र जो होता है वह 'निष्पत्ति' है[83]।

शृंगार-रस सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का होता है। अभीष्ट आलिंगन आदि की प्राप्ति होने पर जो प्रकाशित होता है वह **'सम्भोग'** शृंगार कहलाता है, इसके विपरीत होने पर **'विप्रलम्भ'** कहा जाता है। 'विभाव' भी यहाँ दो प्रकार का ही है-आलम्बनात्मक और उद्दीपनात्मक। प्रथम अनुभवरूप संस्कार में जनक होता है और द्वितीय उसमें बोधक होता है। तदनन्तर संस्कार के उद्बुद्ध होने पर 'अनुभाव' कहलाता है, वह व्यभिचारी भावों के साथ ही दो प्रकार का होता है-आन्तर और बाह्य। स्मृति, इच्छा, द्वेष और यत्न से उत्पन्न होने वाले 'आन्तर' कहलाते हैं। मन, वाणी, बुद्धि और शरीर से उत्पन्न तो 'बाह्य' ही है। यहाँ जन्म, अनुबन्ध, अतिशय, सम्पर्क, अनुग आदि, विभाव और अनुभाव व्यभिचारी की तरह पूरित होते हैं। विभाव से भावों का 'जन्म' होता है। उद्दीपन विभावों के कारण अनुभाव आदि की जो प्रतीति होती है, वह 'अनुबन्ध' कहलाती है। समान कालादि, बलवाले अन्य भाव का उदय होने पर 'सम्पर्क-संसर्ग' कहा जाता है। स्थायी भावों में उपद्रव होने पर 'अनुगामित्व' होता है। इस प्रकार स्थायीभावों में उपद्रव होने पर जन्म, अनुबन्ध, अतिशयादि से 'रति' प्रकाशन होता है। यह 'रति' भाव कामरूप कल्पद्रुम का अंकुर है और सौहृदरूप अंकुर का कन्द है। सभी दूसरे भावों से यह 'रतिभाव' प्रपंच-प्रकर्ष को प्राप्त होता है। समग्र कविसमूह **'रतिप्रपञ्च'** का ही अनुसन्धान करता है।

83. उपरिवत्, 5.26 ।

'रतिप्रपंच' की ही स्थापना करने से कविजन कवीन्द्र-भाव को प्राप्त होते हैं।

हर्षादि चौबीस (24) भाव जन्मादि-भेदपूर्वक 'सम्भोग' के आश्रित हैं। उत्कण्ठा, चिन्ता, स्मृति आदि दूसरे चौबीस (24) भाव 'विप्रलम्भ' के आश्रित हैं। सम्भोग और विप्रलम्भ-दोनों वर्गों के सभी भावों में जन्म, अनुबन्ध, अतिशय, सम्पर्क और अनुगम के भेद से योजना करनी चाहिए। ये सम्पूर्ण अढतालीस (48) भाव 'रति' के भेद हैं। ये 'रति' आदि भाव **'शृङ्गार-व्यक्ति'** के हेतु हैं। यहाँ ग्रन्थ समाप्त होता है।

'रसार्णवालङ्कार' में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार–

वाग्देवी–प्रकाशवर्ष ने अपनी उपजीव्य महाविभूति 'वाग्देवी' का स्मरण **शब्दालङ्कारोल्लेखन** में किया है।[84] 'वाक्'=वाणी की अधिष्ठात्री देवी 'वाग्देवी' है। 'वाक्' की तीन अवस्थाएँ हैं-वैखरी, मध्यमा, और पश्यन्ती। **'पश्यन्ती'** प्रथम अवस्था हैं। यह अखण्ड है, अन्तर्-ज्योति है, सूक्ष्म वाक् है तथा अविनाशी है। यह एक है अतएव इसमें शब्द और अर्थ का भेद नहीं होता है। यह बुद्धि के पूर्व की अवस्था है। **'मध्यमा'** दूसरी अवस्था है। यह विशुद्ध रूप से मानस है अतएव इसका दूसरे श्रवण नहीं कर सकते। इसमें शब्द और अर्थ परस्पर विभक्त हो जाते हैं, किन्तु इनमें फिर भी एकता रहती है। यह बौद्धिक अवस्था है। **वैखरी** तीसरी अवस्था है। यह श्रव्य वाक् है। इसमें प्राण की महान् भूमिका होती है, अतएव इसमें सुनिश्चित क्रम तथा रूप होता है। यह स्फुट वर्णों में उच्चारित की जाती है। ध्वनि भी वैखरी है। यह अनन्त भेदात्मिका है। यह वही वाक् है जो वक्ता के रूप में बाह्य शब्द का उच्चारण करती है। यह शक्तिरूपेण स्वान्तःस्थ अर्थ को बाह्यतया प्रकाशित करती है। यह **शब्द**रूप ज्योति है, जिससे देवादिपामरान्त जनसमूह का समस्त व्यवहारकलाप चलता है।

महेश्वर-भारतीय पौराणिक परम्परा में 'महेश्वर' तत्पर्याय 'शिव' का नाम सभी विद्याओं और सभी कलाओं के उद्गम-स्रोत के रूप में जाना जाता है। प्रकाशवर्ष ने 'आगमालंकार' के अन्तर्गत 'अर्थागम' का उल्लेख करते हुए 'महेश्वर' द्वारा उपदिष्ट अर्थसम्बन्धी 'शास्त्र' की चर्चा की है।[85] अर्थशास्त्र पर उपस्थित प्राचीनतम ग्रन्थ कौटिलीय ही है, किन्तु प्रकाशवर्ष के अनुसार 'अर्थशास्त्र' के आविष्कारक 'महेश्वर' है- ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए उन्होंने कहा है-"आसीन्माहेश्वरं शास्त्रमत्र कोटिप्रमाणकम्"[86]= "अर्थशास्त्र-सम्बन्धी कोटिप्रमाणक 'माहेश्वर-शास्त्र'

84. रसार्णवालङ्कारः, 3.67-69.
85. रसार्णवालङ्कारः, 4.56ब।
86. उपरिवत्।

था"।

स्वयंभू-'स्वयंभू' ब्रह्मा हैं। प्रकाशवर्ष के अनुसार ब्रह्मा ने अति विशाल 'माहेश्वरशास्त्र' का संक्षिप्तीकरण किया था। वह संक्षिप्त संस्करण 'स्वायम्भुव-शास्त्र था'[87]। निस्सन्देह ब्रह्मा ने अर्थशास्त्र का अध्ययन महेश्वर से किया होगा। यहाँ प्रकाशवर्ष दैवी-परम्परा के प्रति श्रद्धावनत हैं।

बृहस्पति-महाभारत के अनुसार बृहस्पति ने धर्म, अर्थ और काम पर रचित ब्रह्मा के ग्रन्थ को तीन हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया था।[88] वनपर्व में बृहस्पति-नीति का भी उल्लेख है।[89] अनुशासनपर्व में बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' की चर्चा हुई है।[90] कामसूत्र के अनुसार ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ और काम पर एक सौ सहस्र अध्यायों में एक महाग्रन्थ लिखा था और बृहस्पति ने उसी के एक अंश 'अर्थशास्त्र' पर ग्रन्थ लिखा था।[91] अश्वघोष ने भी बृहस्पति के राजशास्त्र का उल्लेख किया है। कामन्दक और पंचतंत्र ने भी बृहस्पति के मत का प्रकाशन किया है।[92] यशस्तिलक में उल्लेख है कि बृहस्पति की नीति में देवताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। विश्वरूप और हरदत्त के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि बृहस्पति ने धर्म और व्यवहार-सम्बन्धी विषय पर एक सूत्र-ग्रन्थ भी लिखा था।[93] इन सन्दर्भों से तो लगता है कि बृहस्पति ने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र-दोनों पर ही ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु यह सन्देहास्पद है। दोनों शास्त्रों के रचयिता दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति रहे होंगे, नामसादृश्य होगा।[94] अतएव 'बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र' बहुत बाद में लिखा गया है, जिसका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में छः बार हुआ है।[95] भास ने भी 'बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र' को ब्राह्मणों के अध्ययन हेतु ग्रन्थ कहा है।[96] इसी का संकेत

87. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.57अ.
88. *महाभारतम्*, शान्तिपर्वः, 59.80-85.
89. *महाभारतम्*, वनपर्वः, 32.61.
90. *महाभारतम्*, अनुशासनपर्वः, 39.10-11.
91. *कामसूत्रम्*, 1.5, 7.
92. *पञ्चतन्त्रम्*, 2-41.
93. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, पाण्डुरंग वामन काणे, अनुवादक-अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-74, लखनऊ, प्रथम भाग, पृष्ठ 39.
94. उपरिवत्।
95. *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्*, (सं.) वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1991, पृष्ठ 8, 105, 304, 329, 662, 767.
96. *ल म्यूसिऑं*, एफ. डब्ल्यू. थामस, 1916, i, no 2.

प्रकाशवर्ष ने किया है।[97]

वातव्याधि-कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'वातव्याधि' का उल्लेख पाँच बार हुआ है।[98] नयचन्द्रिका के मतानुसार 'वातव्याधि' 'उद्धव' है।[99] वातव्याधि अपने अर्थशास्त्रीय मतों के लिए सुप्रसिद्ध हैं। अतएव प्रकाशवर्ष ने भी इनके ग्रन्थ का उल्लेख अर्थागम के संदर्भ में किया है।[100]

इन्द्र–महाभारत में छः दण्डनीतिकारों की चर्चा है-बृहस्पति, मनु, भारद्वाज, विशालाक्ष, शुक्र तथा इन्द्र। सम्भवतः 'इन्द्र' 'बाहुदन्तिपुत्र' हैं जिनका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक बार हुआ है।[101] निःसन्देह 'इन्द्र' एक अर्थशास्त्री रहे हैं, इसीलिए अर्थागम के सन्दर्भ में प्रकाशवर्ष ने इनके अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा की है।[102]

विष्णुगुप्त–'चाणक्य' उपनाम 'कौटिल्य' या 'विष्णुगुप्त' प्राचीनकाल से ही 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ के प्रणेता माने जाते रहे हैं। कामन्दकी ने अपने 'नीतिसार' में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की चर्चा की है। एक स्थान पर तो उन्होंने विष्णुगुप्त को अपना गुरु कहा है।[103] तन्त्राख्यायिका ने नृपशास्त्र के प्रणेता चाणक्य को प्रणाम किया है।[104] दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' में लिखा है कि 'मौर्यराज के लिए छः सहस्र श्लोकों में विष्णुगुप्त ने दण्डनीति को संक्षिप्त किया था'।[105] वाण ने कादम्बरी में कौटिल्य को अति नृशंस कहा है।[106] पंचतंत्र में चाणक्य और विष्णुगुप्त को एक ही माना गया है और चाणक्य को अर्थशास्त्र

97. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.58आ।
98. *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्*, पृष्ठ 21, 54, 452, 560, 570.
99. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, प्रथम भाग, पृष्ठ 33.
100. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.57व.
101. *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्*, पृष्ठ 22.
102. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.58आ।
103. **नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र-महोदधे।**
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥ *कामन्दकीयनीतिसारः।*
104. **'चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु'**-*तन्त्राख्यायिका*, मंगलाचरण, श्लोक 2.
105. **'दण्डनीतिरिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता'**–
दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वासः, पृ. 418.
106. **'किं वा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशे कौटिल्यशास्त्रप्रमाणम्'**,–*कादम्बरी*, वाण, (सं.) श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ, 1964, पृष्ठ 109.

का प्रणेता कहा गया है।[107] कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्त में कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रणेता कहे गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि उसने, जिसने नन्द के चंगुल से पृथिवी की रक्षा की, इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। वहीं यह भी कहा गया है कि अर्थशास्त्र के भाष्यकारों की विभिन्न व्याख्यों को देखकर विष्णुगुप्त ने स्वयं चाणक्य-सूत्रों और उनके भाष्य का निर्माण किया है।[108] निष्कर्ष यह है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र[109] मौर्यमन्त्री चाणक्य या विष्णुगुप्त की कृति है।

अर्थशास्त्र में कुल पन्द्रह (15) अधिकरण, एक सौ पचास (150) अध्याय, एक सौ अस्सी (180) विषय और छः हजार श्लोक=बत्तीस अक्षरों की इकाइयां हैं। यह ग्रन्थ गद्य में है, कहीं-कहीं कुछ श्लोक भी हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक या कुछ अधिक श्लोक हैं। कुछ अध्यायों के बीच में भी श्लोक हैं। गद्य-भाग को छोड़कर कुल तीन सौ चालीस (340) श्लोक आए हैं। ग्रन्थ की शैली सरल और सीधी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक व्यक्ति की कृति है, क्योंकि विषयों के अनुक्रम और व्यवस्था में पर्याप्त पूर्वविवेचन दिखाई देता है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन पर इतना मूल्यवान् प्रकाश डालता है और इतने विषयों का प्रतिपादन करता है कि थोड़े में बहुत-कुछ कह देना सम्भव नहीं है, अतएव विषय-सूची ग्रन्थ एव द्रष्टव्य है। कौटिलीय अर्थशास्त्र अथवा विष्णुगुप्त का समय 300 ई.पू. है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए।[110] प्रकाशवर्ष ने इन्हीं विष्णुगुप्त के अर्थागम-मत की पुष्टि की है।[111]

कामन्दकी या **कामन्दक**–कामन्दक या कामन्दकी का ग्रन्थ 'नीतिसार' है। जो कि '**कामन्दकीय-नीतिसार**'[112] के नाम से प्रसिद्ध है। 'नीतिसार' का मूल आधार ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र ही है, कामन्दक ने चाणक्य को अपना गुरु

---

107. *पञ्चतन्त्रम्*, कथामुख, पृष्ठ 3.
108. **येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।**
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥
दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥ *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्*, पृष्ठ 771.
109. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, प्रथम भाग, पृष्ठ 33.
110. *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्*, भूमिका, पृष्ठ 65-70.
111. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.58व.
112. *कामन्दकीयनीतिसारः*, (सं.) राजेन्द्र लाल मित्रा, बिब्लियोथिका इण्डिका, .कलकत्ता, 1884; (सं.) टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, नं. 14, 1912; (सं.) गजेश्वर शास्त्री द्रविड़, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, 136, पूना, 1982.

कहा है।[113] यह ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र का संस्करण नहीं है, अपितु सरलीकरण है। इसमें उसके अनुशासन-सम्बन्धी द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ अध्यायों को संक्षिप्त कर दिया गया है, साथ ही अन्तिम दो अध्यायों की विषयवस्तु को तो अतिसंक्षिप्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, इसमें उपदेशपरक नीतिशास्त्र का एक सुदीर्घ विवेचन है जो कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में नहीं है। प्रत्युत इसमें कुछ भाग तो अति मौलिक हैं, जैसे-विदेशनीति-सम्बन्धी सिद्धान्त,- जो कि बिना किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के स्वतः विकसित किया गया है। हाँ, इसके सोलह से बीस तक अर्थात् पाँच अध्याय तो कौटिलीय अर्थशास्त्र के पुनरुक्ति मात्र हैं। 'कामन्दकीय' अतिसरल श्लोकबद्ध शैली में रचित हैं, इसमें उपजीव्य काव्य की भांति सर्ग हैं अतएव इसके एक टीकाकार ने तो इसको काव्य-रचना कहा है।[114]

कामन्दक कब और कहाँ हुए-यह निश्चित करना संभव नहीं है। पंचतंत्र में इनकी कोई चर्चा नहीं है और कालिदास ने भी इनको कहीं भी उल्लिखित नहीं किया है, जबकि दोनों स्थान पर कौटिलीय अर्थशास्त्र अंकित है। दण्डी इनसे परिचित नहीं दिखाई देते। दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' के प्रथम अध्याय के अन्त में 'नीतिसार' नामक ग्रन्थ को अवश्य उद्धृत किया है। हाँ, भवभूति ने अपने नाटक 'मालतीमाधव' में दूतकार्य में निपुण एक साध्वी स्त्री-पात्र का नाम 'कामन्दकी' रखा है, इससे प्रतीत होता है कि भवभूति 'कामन्दकीय नीतिसार' से परिचित रहे होंगे, यद्यपि इन्होंने कौटिलीय अर्थशास्त्र का यथास्थान प्रयोग किया है जैसा कि विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में किया है। वामन (800 ई.) 'कामन्दकीय नीतिसार' से सुपरिचित थे,[115] अतएव 'कामन्दक' को 700 ई. का कहा जा सकता है, जबकि कुछ विद्वान् कामन्दक को वराहमिहिर (600 ई.) का समकालीन कहते हैं। प्रकाशवर्ष ने भी विष्णुगुप्त के परवर्ती इन्हीं कामन्दकी के ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[116] यह अवधारणा सर्वथा निराधार है कि 'ईसा की प्रथम शताब्दी के आरम्भ में कुछ हिन्दू 'बाली' द्वीप जा बसे थे, वे 'कामन्दकीय नीतिसार' को वहां ले गए थे, उसकी नीतियों का अनुसरण करते थे, अतएव 'कामन्दकीय नीतिसार' का समय ई.पू. प्रथम शताब्दी है',[117] कारण कि दसवीं शताब्दी तक बाली द्वीप में पूर्ण विकसित 'काबी' साहित्य में 'कामन्दकीय नीतिसार' का कोई महत्त्व नहीं दिखाई देता है।[118]

---

113. **'नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे'**- *कामन्दकीयनीतिसारः*।.
114. जेकोबी, एस-बी-ए, 1912, पृष्ठ 836.
115. **'कामं कामन्दकीनीतिरस्या रस्या दिवानिशम्'**–*काव्यालङ्कारसूत्रम्*, 4.1.2.
116. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.58ब।
117. 'प्रीफ़ेस टू कामन्दकीयनीतिसार', राजेन्द्रलाल मित्रा।
118. *ए हिस्ट्री आॅव संस्कृत-लिटरेचर*, ए.बी. कीथ, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1961, पृष्ठ 463.

वात्स्यायन–वात्स्यायन 'कामसूत्र' के प्रणेता हैं। 'कामसूत्र' अर्थशास्त्र का ही प्रतिरूप है, क्योंकि कौटिल्य ने धर्म, अर्थ और काम-त्रिवर्गस्वरूप पुरुषार्थ को ही जीव का परम लक्ष्य कहा है। उनके अनुसार त्रिवर्गसिद्धि ही मानव का लौकिक प्रयोजन है। धर्मशास्त्रों से धर्म का स्वरूप जानकर, अर्थशास्त्र से अर्थ का अभ्युदयक्रम जानकर, कामशास्त्र से काम का सम्यक् प्रयोगचातुर्य सम्पादन करने से त्रिवर्गसिद्धि होती है। धर्म, अर्थ और काम की आराधना समभावेन करणीय होती है, जो व्यक्ति एक में ही आसक्त रहता है वह निन्दा का पात्र होता है। इसी दृष्टि से 'काम' का भी वरण अपेक्षित होता हैं। इसप्रकार 'कामसूत्र' अर्थशास्त्र का ही प्रतिफल है। वात्स्यायन ने भी कौटिलीय अर्थशास्त्र की सूत्रशैली में ही 'कामसूत्र' की भी रचना की है। .दोनों में शैलीविषयक बहुत कुछ साम्य है। दोनों की रचना सूत्रात्मक शैली में की गई है और दोनों में प्रकरण के अन्त में कतिपय पद्य भी दिए गए हैं, जिनमें समग्र विषय का सार-अंश प्रस्तुत किया गया है। इसप्रकार 'कामसूत्र' अपने उदात्त वाक्य और प्रांजल रचना की दृष्टि से भी संस्कृत-साहित्य में विख्यात है।

विषय-विभाजन की दृष्टि से 'कामसूत्र' सात (7) अधिकरणों तथा चोंसठ (64) प्रकरणों या छत्तीस (36) अध्यायों में विभक्त है। **प्रथम** अधिकरण में शास्त्र के सामान्य विषयों के विवरण के साथ 'नागरक' का चरित्र, उसकी कला में आसक्ति तथा उसकी शिष्टता व सभ्यता का विवेचन है। यहीं त्रिवर्ग-विवरण भी दिया गया है। **द्वितीय** अधिकरण 'साम्प्रयोगिक' है जिसमें रतिशास्त्र के विषयों का विस्तृत वर्णन है। यह ग्रन्थ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है। **तृतीय** अधिकरण का नाम 'कन्यासम्प्रयुक्तम्' है। इसमें कन्या के वरण का वर्णन है। प्रसंगवशात् विवाहसम्बन्धी आवश्यक चर्चा भी है। **चतुर्थ** अधिकरण 'भार्याधिकारिक' नाम से विख्यात है। इसमें भार्या के कर्तव्यों का सुन्दर वर्णन है। **पञ्चम** अधिकरण 'पारदारिक' है। **षष्ठ** अधिकरण 'वैशिक' नाम से प्रख्यात है। **सप्तम** अधिकरण का नाम 'औपनिषदिकम्' है। कामशास्त्र का मुख्य विषय गत छः अधिकरणों तक ही है। यह अन्तिम खण्ड तो विशेषतः वैद्यकशास्त्र से सम्बन्ध रखता है।

वात्स्यायन के समय-निर्धारण में विद्वानों में मतभेद है। एक मत के अनुसार 'कामसूत्र' में कुन्तल शातकर्णी शालिवाहन का उल्लेख होने से और मत्स्यपुराण के अनुसार शातकर्णी का समय ईसा पूर्व 615 ईसवी स्वीकार करने से वात्स्यायन का समय ईसा पूर्व सप्तम शताब्दी है। विण्टरनिट्ज ने भाषा-प्रयोग के आधार पर वात्स्यायन का समय ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी माना है। म.म. हरप्रसाद शास्त्री और सूर्य नारायण व्यास ने वात्स्यायन का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी स्वीकार किया है। किन्तु हेमचन्द्र के 'अभिधानचिन्तामणि' के अनुसार वात्स्यायन, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त, कौटल्य और चाणक्य एक ही व्यक्ति हैं और न्यायभाष्य,

अर्थशास्त्र और कामसूत्र-तीनों के रचयिता एक ही वात्स्यायन हैं, अतएव वात्स्यायन का समय चतुर्थ शताब्दी माना जा सकता हैं। दिङ्नाग ने वात्स्यायन के मत का खण्डन किया है, अतएव वात्स्यायन दिङ्नाग के समय पंचम शताब्दी के बाद के नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दिङ्नाग ने वसुबन्धु का उल्लेख नहीं किया है अतः वात्स्यायन का समय चतुर्थ शताब्दी ठीक लगता है। इसके अतिरिक्त कामसूत्र में आभीरों के समान आन्ध्रों का सामान्य शासक के रूप में वर्णन है। तृतीय शताब्दी में आन्ध्रों का राज्य नष्ट हो गया था, अतः 'कामसूत्र' के प्रणेता वात्स्यायन का समय चतुर्थ शताब्दी मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[119] प्रकाशवर्ष ने 'कामगम' के प्रसंग में इनका नामोल्लेख किया है।[120]

महाभामह-प्रकाशवर्ष ने 'वृत्ति' नामक शब्दालंकार को प्रस्तुत करते समय '**महाभामह**' द्वारा कथित साधारणी-वृत्ति का लक्षण उद्धृत किया है।[121] उन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेकत्र 'भामह' की पंक्तियों को भी शब्दतः अवतरित किया है, किन्तु वहाँ भामह का नामोल्लेख नहीं किया है। हाँ, महाभामह द्वारा कथित पंक्तियाँ भामह के 'काव्यालंकार' में नहीं है, अन्यत्र भी नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकाशवर्ष के समय में या तो भामह और महाभामह के दो पृथक्-पृथक् ग्रन्थ रहे होंगे, या फिर 'काव्यालंकार' के दो संस्करण रहे होंगे जिनमें से एक विशाल ग्रन्थ होगा और दूसरा उसी का संक्षिप्त रूप रहा होगा तथा प्रथम के प्रणेता 'महाभामह' और द्वितीय के 'भामह' रहे होंगे। इसीलिए 'रसार्णवालङ्कार' में 'भामह' कृत काव्यालंकार की पंक्तियाँ जो प्राप्त हैं वहाँ भामह या उनके ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं किया है। उनके समक्ष 'महाभामह' कृत विशाल ग्रन्थ रहा होगा, उसका नाम जो भी रहा हो। जैसे-शारदातनय के समक्ष नाट्यशास्त्र के दो संस्करण थे-नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र। नाट्यवेद में बारह हजार श्लोक थे और नाट्यशास्त्र में छः हजार श्लोक थे। नाट्यवेद के प्रणेता 'वृद्धभरत' थे और नाट्यशास्त्र के 'भरत' थे।[122] यहाँ प्रकाशवर्ष और शारदातनय में समानता द्रष्टव्य है। अस्तु। '**महाभामह**' भामह के पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं, उनका अलंकारशास्त्रीय विशाल ग्रन्थ रहा है जिसके आज उपलब्ध न होने से उसका नाम भी ज्ञात नहीं है।

आद्यराज-प्रकाशवर्ष ने काव्य में भाषा के प्रयोग को निर्धारित करते समय 'प्राकृत' भाषा के प्रयोग की चर्चा करते हुए '**आद्यराज**' का नामोल्लेख किया

119. उपरिवत्, पृष्ठ 469.
120. *रसार्णवालङ्कारः*, 4.83अ।
121. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.37.
122. *भावप्रकाशनम्*, शारदातनय,(सं. एवं. व्या.) मदन मोहन अग्रवाल, भूमिका, पृष्ठ 27-28.

है-'कोऽभूवन्नाढ्यराजस्य काले प्राकृतवेदिन:'[123]='आढ्यराज के समय में कौन प्राकृतवेत्ता नहीं था अर्थात् तब सभी प्राकृतभाषी थे।' आढ्यराज एक कवि हैं[124], जिन्होंने प्राकृत भाषा में नृत्य के साथ गाए जाने वाले कुछ गीति-काव्य रचे थे, जिनमें 'उत्साह' नामक पदों की बहुलता थी, जो बहुत श्रेष्ठ थे और जनसामान्य में अतिप्रचलित थे अतएव तब सभी प्राकृतभाषी थे। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में आढ्यराज की कविताओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

'आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तःकृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते।।' 1.18।।

'आढ्यराजकृत 'उत्साह' नामक कार्य को हृदयस्थ करके स्मरण करने पर मानो मेरी जिह्वा मुँह के अन्दर खिची जा रही है और कविता करने में प्रवृत्त नहीं हो रही है।'

पिशेल का कहना है कि आढ्यराज हर्षदेव अर्थात् सम्राट् हर्ष (606-648 ईसवी) ही हैं जिनके सभा-पण्डित बाणभट्ट थे।[125] यही मत कीथ का है।[126] वासुदेवशरण अग्रवाल उक्त दोनों मतों से सहमति रखते हुए बाणोक्त श्लोक का अर्थ करते हैं-'आढ्यराज=महान् सम्राट हर्ष के उदात्त कर्म ऐसे हैं कि उनका स्मरण मेरी जिह्वा को कुंठित करता है और कविकर्म की प्रवृत्ति को रोकता है।' डॉ. अग्रवाल कहते हैं कि आढ्यराज नामक कवि और उनके 'उत्साह' का कुछ निश्चित पता नहीं है। हो सकता है, वे कोई लोक-कवि रहे हों।[127]

'सरस्वतीकण्ठाभरण' के टीकाकार रत्नेश्वर ने आढ्यराज को शालिवाहन का दूसरा नाम कहा है।[128] कथा है कि 'गुणाढ्य ने सात लाख श्लोकों में बृहत्कथा का निर्माण किया था और उसको सातवाहन की सभा में उपस्थित किया था, किन्तु कवि को विशेष उत्साह नहीं मिला। उन्होंने उसके छः लाख श्लोक नष्ट कर दिए, अन्त में जब एक लाख श्लोक बचे, तब सातवाहन ने उनकी रक्षा की थी।' डॉ.

123. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.92अ.
124. **'आढ्यराजः कश्चित्कविः। उत्साहो नृत्ते तालविशेषः। उदीर्यमाणऽगीत्याधारभूत-पदोपचारात्काव्यमप्युत्साह इति केचित्। यत्र पूर्वं श्लोकेनार्थ उपक्षिप्यते, पश्चात्स एव गद्येन वितन्यते, मध्ये वृत्तनिबन्धश्च भवति, स परिसमाप्तार्थ उत्साह उच्यत इत्यन्ये।'** *हर्षचरितम्-सङ्केतटीका*, शंकरकवि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978, पृष्ठ 10.
125. आर. पिशेल, *नच्रिच्तें फिल्, लिट्*, क्लासी, 1901, पृष्ठ 485-7.
126. *ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत-लिटरेचर*, ए.बी. कीथ, पृष्ठ 316.
127. *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1964, पृष्ठ 8.
128. **'आढ्यराजः शालिवाहनः'**—*सरस्वतीकण्ठाभरणम्, रत्नदर्पणटीका*, पृष्ठ 207.

अग्रवाल के अनुसार यद्यपि यह किंवदन्ती है, किन्तु सम्भव है, बाण के समय में यह प्रचलित रही हो। राजाओं से कवियों को मिलने वाले प्रोत्साहन की ओर व्यंग्य करते हुए बाण का उपर्युक्त श्लोक चरितार्थ होता है। इसके पहले सत्रहवें श्लोक में 'बृहत्कथा' का नाम आ चुका है, इससे बाणोक्त श्लोक का यह अर्थ सम्भव है-'आढ्यराज सातवाहन ने बृहत्कथा-लेखक गुणाढ्य को जैसा फीका उत्साह दिलाया, उसके स्मरणमात्र से कविता करने की मुझे इच्छा नहीं होती। लेकिन फिर भी राजा हर्ष की भक्ति के वश में उनके इस चरित-समुद्र में डुबकी लगाऊँगा'। यही अर्थ यहाँ सुसंगत जान पड़ता है।[129]

वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाणोक्त श्लोक के उपर्युक्त तीनों अर्थ किए हैं, किन्तु उन्होंने अन्त में श्लोक को व्यंग्योक्ति स्वीकार कर लिया है। जबकि ऐसा युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' प्रारम्भ करने से पूर्व मंगलाचरणोपरान्त ग्यारहवें श्लोक से उपर्युक्त श्लोक तक सुबन्धु, भट्टारक हरिश्चन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास और गुणाढ्य को स्मरण कर अपना अतिविनय प्रकट किया है और उसी क्रम में उन्होंने तुरन्त 'आढ्यराज' का स्मरण किया है। अतएव यहाँ 'आढ्यराज' एक कवि हैं, जो बाण के पूर्ववर्त्ती हैं।

साहसाङ्क-प्रकाशवर्ष ने 'काव्य में भाषा प्रयोग' के अन्तर्गत संस्कृत-भाषा के प्रयोग के संदर्भ में **'साहसाङ्क'** का नामोल्लेख किया है-'काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतभाषिणः'[130]='श्रीसाहसाङ्क' के समय में कौन संस्कृत-भाषी नहीं था अर्थात् सब संस्कृत-भाषा का प्रयोग करते थे।' परमारवंशीय राजा मुंज ही **'साहसाङ्क'** हैं। मुंज को वाक्पतिराज प्रथम, सहसांक, सिन्धुराज, उत्पलराज, श्रीवल्लभ, पृथ्वीवल्लभ, और अमोघवर्ष उपाधियाँ प्राप्त थीं। इनका शासन काल 974-994 ईसवी है।[131] साहसांक स्वयं एक उत्तम कवि थे, इनके नाम से अनेक संस्कृत-पद्य सुभाषित-संग्रहों में प्राप्त होते हैं।[132] ये संस्कृतानुरागी, संस्कृत-कवियों के आश्रयदाता थे।[133] 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की 'रत्नदर्पण' टीका में साहसांक को विक्रमादित्य कहा है,[134] जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि साहसांक या नवसाहसांक जैसे व्यक्तित्व इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

129. *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, पृष्ठ 8.
130. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.92ब।
131. *हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत-लिटरेचर*, पृष्ठ 163, नोट-7.
132. 'इन्ट्रोडक्शन टू कवीन्द्रवचनसमुच्चय', *कवीन्द्रवचनसमुच्चयः*, एफ.डब्ल्यू. थामस, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1912, पृष्ठ 103.
133. *हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत-लिटरेचर*, पृष्ठ 401.
134. **'साहसाङ्को विक्रमादित्यः'**—*सरस्वतीकण्ठाभरणम्, रत्नादर्पणटीका*, पृष्ठ 207.

बाणभट्ट-प्रकाशवर्ष ने काव्य में जाति आदि शब्दालंकारों की उपयोगिता बताते हुए और उनके प्रयोग के प्रति सजगता दर्शाते हुए बाण की गद्य-शैली की प्रशंसा करते हुए कहा है-'यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'[135]='जैसा गद्य में बाण ने किया है वैसा पद्य में नहीं किया है' अर्थात् बाण की गद्यशैली अद्भुत है, सर्वश्रेष्ठ है। बाण ने स्वयं काव्य और गद्य की शैली के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं-'इस समय लोक में राग-द्वेष से भरे हुए, वाचाल, मनमाने ढंग से कविता करने वाले कुकवि भरे हुए हैं। ऐसे कवि घर-घर में हैं, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूपमात्र के वर्णन को ही कविता समझते हैं, किन्तु नवनिर्माणकारी, नई वस्तु उत्पन्न करने वाले कवि थोड़े ही हैं-'असंख्या जातिभाजः उत्पादका न बहवः कवयः'।[136] अस्तु।

संस्कृत-साहित्य में गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष वस्तुतः बाणभट्ट की कृतियों में ही पाया जाता है। बाण कविता में समन्वय-दृष्टि के पक्षपाती थे। वे एकाङ्गी दृष्टि को कविता के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। उनके समय में प्रायः पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण-सभी दिशाओं के कवि एकाङ्गी दृष्टि से काव्य रचना करते थे, जैसा कि उन्होंने स्वयं निर्देश किया है-

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्॥[137]'

'उदीच्य=उत्तर के लोगों में श्लेषप्रधान-शैली में रचना करने की प्रवृत्ति है, प्रतीच्य=पश्चिम के लोग अर्थमात्र पर ध्यान देते हैं, दाक्षिणात्य लोग उत्प्रेक्षा करने में निपुण है और गौडदेशीय=प्राच्य कवियों की रचना में अक्षराडम्बर है'।

इस प्रकार चारों ओर साहित्यिक समाज में एकाङ्गी दृष्टि से काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति चल पड़ी थी जो बाण को अभिप्रेत नहीं थी। बाण कविता में सब शैलियों का समन्वय मानते थे। बाण की दृष्टि में उत्तम काव्य वह है जिसमें विषय की नवीनता, सुन्दर लगने वाली स्वभावोक्ति, ऐसा श्लेष जो क्लिष्ट न हो, स्फुट रस जिसके लिए पाठक को परिश्रम न करना पड़े, और विकटाक्षर योजना=भारी-भरकम शब्द योजना-ये पाँच गुण एकसाथ हों।[138] यह समन्वय-प्रधान दृष्टि ही बाण की विशेषता थी और उनकी सफलता का रहस्य भी थी।

---

135. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.87अ।

136. *हर्षचरितम्*, 1.5.

137. *हर्षचरितम्*, 1.7.

138. **नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥** *हर्षचरितम्*, 1.8

यद्यपि बाण के समय से ही चूर्णक, उत्कलिका, आविद्ध और वृत्तगन्धि-ये चार प्रकार की गद्य- शैलियाँ प्रचलित थीं; दीर्घ समासवाली उत्कलिका, अल्पसमासवाली चूर्णक, समासरहिता आविद्ध और बीच-बीच में श्लोकों से बघारी हुई शैली वृत्तगन्धि थी;[139] किन्तु उनके साहित्य में चूर्णक, उत्कलिका और आविद्ध-ये तीन शैलियाँ ही मिलती हैं, वृत्तगान्धि का प्रयोग वहाँ नहीं है। चतुर शिल्पी की भांति बाण ने इन शैलियों को अपने साहित्य में अदल-बदल कर इस प्रकार सजाया है कि वर्णन बोझिल बनकर पाठक के मन को आक्रान्त नहीं करते हैं। उनकी रीति है कि समासबहुला उत्कलिका-शैली के प्रयोग के बाद वे ढील छोड़ देते हैं। कभी-कभी एक ही वर्णन में शब्दाम्बरपूर्ण उत्कलिका शैली से आरम्भ करके वे समासरहिता आविद्ध-शैली से अन्त करते हैं, वहीं तुरन्त छोटे-छोटे समास से परिपूर्ण चूर्णक शैली का आश्रय ले लेते हैं। बाण की इस समन्वय-प्रधान शैली का निखरा हुआ रूप हर्षचरित के राज्यश्री के विवाह के प्रसंग में मिलता है। हर्षचरित की अपेक्षा कादम्बरी के वर्णन चित्रमयता, प्रांजलता और सरसता की दृष्टि से अपूर्व बन पड़े हैं। बाण स्वयं कादम्बरी में गद्य की उत्कृष्ट शैली की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं-'उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमाना-भिनवार्थसञ्चयम्'[140]='नाना प्रकार के वर्णों द्वारा नये-नये अर्थसमूह का प्रतिपादन करने वाला गद्य उत्कृष्ट होता है अथवा वह उत्कृष्ट कवि द्वारा लिखा जाता है।'

महाकवि बाण आख्यायिका और कथा दोनों के लेखक हैं। **'हर्षचरित'** आख्यायिका है और **'कादम्बरी'** कथा। बाण के अनुसार 'आख्यायिका' में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए। 'कथा' कल्पना-प्रसूत होती है। बाण की प्रामाणिक रचनाओं में 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी'-ये दो गद्य रचनाएँ ही हैं, इनके अतिरिक्त कोई दूसरी नहीं हैं। बाण का स्थितिकाल निस्सन्देह रूप से सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध (606-648 ईसवी) है।[141] हर्ष का समय निश्चित होने के कारण इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक वैमत्य नहीं है।

विदग्धमुखमण्डनम्-संस्कृत-वाङ्मय में लक्ष्य-लक्षणोपेत, शब्दचित्रप्रतिपादक, अद्वितीय चित्रकाव्य 'विदग्धमुखमण्डन' का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं। इसमें विभिन्न विषयों का उल्लेख विविध-जाति, प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि के लक्षणों व उदाहरणों सहित किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यरूप है, किन्तु अलंकारशास्त्रपरक है। कवि ने इसमें जाति आदि अलंकारों के लक्षण देते हुए

---

139. **चूर्णकमल्पसमासं दीर्घसमासमुत्कलिकाप्रायम्।
समासरहितमाविद्धं वृत्तभागान्वितं वृत्तगन्धि॥**

140. *कादम्बरी*, पृष्ठ 347.

141. *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, पृष्ठ 1.

स्वरचित संस्कृतपद्यों के उदाहरण दिए हैं, अतएव यह अलंकारशास्त्रीय होते हुए 'काव्य' भी कहा जाता है, 'चित्रकाव्य' कहा जाता है। यह काव्यरत्न विलक्षण है। प्रकाशवर्ष ने 'प्रश्नोत्तर' नामक शब्दालंकार के भेदों की चर्चा करते हुए 'विदग्धमुखमण्डन' ग्रन्थ का सन्दर्भ दिया है।[142]

इस ग्रन्थ के प्रणेता धर्मदास सूरी है। 'सूरी' होने से 'जैन' प्रतीत होते हैं, किन्तु ये 'बौद्ध' हैं। इन्होंने अपने मङ्गलाचरण में कहा है-'शौद्धोदनेः प्रवचनानि चिरं जयन्ति'='शुद्धोदनपुत्र बुद्धदेव के उपदेशरूप प्रवचन चिरकालपर्यन्त सर्वोत्कर्षपूर्वक रहते हैं।'[143] इससे वे बुद्धानुयायी प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त एक और श्लोक में कवि 'सुगत=बुद्ध' की स्तुति करते हैं-

'सुशीलः स्वर्णगौराङ्गः पूर्णचन्द्रनिभाननः।
सुगतः कस्य न प्रीतिं तनोति हृदि संस्थितः।।'[144]

'सुशील=पंचशीलों से युक्त, स्वर्णवत् गौर अंगों वाले, पूर्णचन्द्रसदृश मुखवाले हृदय में विद्यमान सुगत=बुद्ध किसकी प्रीति का विस्तार नहीं करते हैं?'
पुनः कहते हैं-

'सत्यशीलो दयोपेतो दाता शुचिरमत्सरः।
जिनः सर्वात्मना सेव्यः पदमुच्चैरभीप्सता।।'[145]

'सुशील, दया से युक्त, दाता, पवित्र, अमत्सर=दूसरे के शुभ में द्वेष न करने वाले जिन=बुद्धदेव उन्नत स्थान को प्राप्त करने के लिए इच्छुक जनों से समस्त प्रयत्नों से सेवा करने के लिए योग्य हैं।' उक्त पद में 'जिन' शब्द का अर्थ 'बुद्ध' ही है, जैन नहीं; क्योंकि अमरकोशकार ने कहा है- 'मारजिल्लोकजिज्जिनः'।[146] उक्त सन्दर्भों से भी धर्मदास सूरी का 'बौद्ध' होना सिद्ध होता है। ग्रन्थान्त में उन्होंने कहा ही है-'कृतिस्तु धर्मदासस्य सौगतस्य तपस्विनः'।[147] धर्मदास ने सम्पूर्ण भारत में भ्रमण किया था। ये कवि ही नहीं, अपितु अलंकारशास्त्री होने के साथ-साथ अच्छे कोशकार, चित्रकला में प्रवीण थे। ये अपने प्रारम्भिक जीवन में श्रौत व स्मार्त ही थे, किन्तु कालान्तर में

---

142. *रसार्णवालङ्कारः*, 3.56ब.
143. *विदग्धमुखमण्डनम्*, धर्मदास सूरी, (सं.) रमाप्रपन्न शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, 1914, मंगलाचरण, श्लोक 1.
144. *विदग्धमुखमण्डनम्*, 4.66।
145. उपरिवत्, 4.70 ।
146. *अमरकोशः*, 1.1.13.
147. *विदग्धमुखमण्डनम्*, 4.75.

श्रौत-स्मार्तधर्म से उद्विग्न होकर उन्होंने अपना धर्म व देश छोड़कर मगधदेशान्तर्गत पाटलिपुत्र नगर में जाकर बौद्धधर्म का आश्रय ग्रहण कर लिया था। उस समय पाटलिपुत्र में कौन बौद्धानुयायी राजा शासन करता था, यह ज्ञात नहीं है।[148] अस्तु।

'विदग्धमुखमण्डन' की नौ टीकाएँ हैं,[149] जिनमें से प्रथम टीकाकार जिनप्रभ सूरी हैं जो जयसिंह के शिष्य हैं। जिनप्रभ का समय लगभग 1293 ईसवी और 1309 ईसवी है।[150] शाङ्गधर ने अपनी 'पद्धति' में धर्मदास कृत 'विदग्धमुखमण्डन' से 'कस्य मरौ दुरधिगमः?....., 2.31-श्लोक को 'प्रश्नोत्तराख्यान' में 556वीं संख्या पर उद्धृत किया है। 'शार्ङ्गधरपद्धति' का संरचना-काल 1363 ईसवी है।[151] कुमारस्वामी (1425 ईसवी) ने अपनी 'प्रतापरुद्रीय' पर टीका 'रत्नापण' में 'विदग्धमुखमण्डन' से प्रहेलिका का लक्षण उद्धृत किया है।[152] रायमुकुट ने अमरचन्द्र या अमर पर काव्यरचना 1431 ईसवी में की है उसमें धर्मदास सूरी का उल्लेख किया है।[153] अतएव धर्मदास तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रहे होंगे- यह कहा जा सकता है।[154]

---

148. **'यदसौ धर्मदासनामा सूरिर्बौद्धसाधुः, सिद्धौषधानि इति प्रथमपद्येन, मध्ये बुद्धदेवस्तुत्या च, तत आशीर्वादोक्तेः इति टीकाटिप्पणश्लोकैश्च ज्ञायते। अयं च सर्वेषु देशेषु कृतविहरणः काव्यालङ्कार- कोश- चित्रकलाप्रवीणश्चासीत्। किञ्च प्रथमं श्रौतस्मार्तधर्मी तदुद्वेजनेनैव स्वधर्मं वसतिं च विहाय मगधेषु पाटलिपुत्रे बौद्धधर्मं शिश्रिये। अयं च बौद्धानां कतमस्मिन् राजनि पाटलिपुत्रे मगधान् प्रशास्ति सत्यासीदित्यादि न ज्ञायते'।** *विदग्धमुखमण्डनम्*, भूमिका, पृष्ठ 3.
149. (i) जिनप्रभसूरिविरचिता, (ii) स्वात्मारामयोगीन्द्रनिर्मिता, (iii) ताराचन्द्रकृता विद्वन्मनोहरा, (iv) नरहरिभट्टकृतं श्रवणभूषणम्, (v) गौरीकान्तभट्टाचार्यकृता वीटिका, (vi) त्रिलोचनकृता सुबोधिनी, (vii) वासुदेवपुत्रदुर्गादासकृता टीका, (viii) शिवचन्द्ररचिता विवृत्तिः, तथा (ix) परमेश्वरानन्दकृता टीका।
150. वेवर रिपोर्ट, 1728; पीटरसन रिपोर्ट, वॉल्यूम V, पृष्ठ XXXVii; क्लेटस् ओनोमेस्टीकोन; *हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स*, सुशील कुमार डे, कलकत्ता, 1976, भाग एक, पृष्ठ 283-284.
151. *शार्ङ्गधरपद्धतिः*, भूमिका, पृष्ठ 7.
152. *प्रतापरुद्रीयम्*, विद्यानाथप्रणीतम्, कुमारस्वामिविरचितया रत्नापणाख्यटीकया सहितम्, (सं.) वी. राघवन, मद्रास, 1970, पृष्ठ 80.
153. आर.जी. भण्डारकर रिपोर्ट, 1883-1884, पृष्ठ 63.
154. *हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत-लिटरेचर*, पृष्ठ 767.

अलङ्कारशास्त्र की परम्परा में प्रकाशवर्ष का योगदान–

अलंकारशास्त्र की परम्परा में प्रकाशवर्ष का विशेष योगदान रहा है। इनके ग्रन्थ 'रसार्णवालङ्कार' के अध्ययन के पश्चात् उनके अनेक मौलिक तत्त्वों का उद्घाटन होता है। अलंकारशास्त्र में 'रसार्णवालङ्कार' का कितना व्यापक महत्त्व है, विषय की दृष्टि से उसकी कितनी उपादेयता है, अलंकारशास्त्र में उसका क्या स्थान है, इत्यादि विविध विषयों के स्वरूप के दर्शन होते हैं। प्रामाणिकता एवं उपादेयता की दृष्टि से यह ग्रन्थ भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से किसी प्रकार भी कम नहीं है। संक्षिप्त अवश्य है, किन्तु यहाँ भी काव्यतत्त्वों की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह अद्भुत ही है।

प्रकाशवर्ष का सर्वप्रथम योगदान **'दोषप्रमोष'** के विषय में रहा है। इसके लिए 'रसार्णवालङ्कार' में जो सुनियोजित परम्परा स्वीकार की गई है, उसका अपना विशिष्ट महत्त्व है। प्रकाशवर्ष के मत में 'दोषप्रमोष' प्रथम काव्योचित तत्त्व है जिसके कारण कोई उक्ति काव्य या साहित्य कहलाने के योग्य बनती है। समस्त दोषों के निराकरण के विषय में पूरी सावधानी लेने के पश्चात् ही कोई कवि अपनी उक्ति के वैशिष्ट्यों, अलंकारों और भावों से युक्त होने की बात सोच सकता है। 'दोषप्रमोष' स्वयं ही एक गुण है। माघ ने कहा है-'अपदोषतैव विगुणस्य गुणः',[155] भले ही किसी वस्तु में सौन्दर्यवर्धक निश्चित तत्त्व न हों तो भी यदि वह पूर्णतया दोषों से विमुक्त है तो दोषाभाव के कारण ही सुन्दर कही जाएगी। केशवमिश्र ने अपने 'अलंकारशेखर' में किसी लेखक का पद्य उद्धृत किया है-

> 'दोषस्सर्वात्मना त्याज्यः रसहानिकरो हि सः।
> अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान्निर्दोषता गुणः'।।2.1।।

अतएव कवि को अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान्- कवि वह होता है जिसको दोषों का ज्ञान हो और जो उनसे वच सके। अमरकोशकार का भी यही कथन है कि विद्वान् दोषज्ञ होता है-'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः'[156]। इसीलिए प्रकाशवर्ष ने 'दोषप्रमोष' को काव्य का प्रथम तत्त्व स्वीकार किया है। एतदर्थ ही उन्होंने सर्वप्रथम पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष-त्रिविध दोषों का विवेचन किया है। उनके अनुसार चौदह पददोष, चौदह वाक्यदोष और सोलह वाक्यार्थदोष हैं, इस प्रकार चौबालीस काव्यगत दोष हैं। यद्यपि ये दोष भोज से अनुसृत हैं, किन्तु प्रकाशवर्ष का दोषवर्गीकरण सोपपत्तिक

---

155. *शिशुपालवधम्*, 9.12.

156. *अमरकोशः*, 2.7.5.

तथा विवेकपरिचायक है।

प्रकाशवर्ष के मत में द्वितीय काव्योचित तत्त्व **'गुणोपादान'** है। इसके लिए भी 'रसार्णवालङ्कार' में एक सुनियोजित व्यवस्था की गई है। वह भी विशिष्ट है। प्रकाशवर्ष की दृष्टि में शब्दार्थज कलान्वित लोक, दोषरहित होने पर भी 'गुणोपादान' के बिना काव्य की साधुता स्वीकार नहीं करता। जैसे कुष्ठादि दोषों से रहित भी सुन्दरी का शरीर गुणों के बिना प्रशंसा का पात्र नहीं होता। इसीलिए नृत्त, गीतादि रमणीक गुणों का आदर सर्वतोभावेन होता है, अतएव 'गुणोपादान' काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है। वास्तविकता यह है कि 'दोषप्रमोष' और 'गुणोपादान'-दोनों अन्योन्याश्रित तत्त्व हैं, एक-दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते हैं। अतएव प्रकाशवर्ष ने पहले शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार के 'गुण' कहे हैं। शब्दगुण बाईस हैं और अर्थगुण भी बाईस हैं। श्लेषादि ही दोनों के समान नाम हैं। यहीं प्रकाशवर्ष गवेषणा करते हैं कि पदादि पर आश्रित जो दोष भी किसी कारण से क्वचित् गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं तो वे 'दोषगुण' अथवा 'वैशेषिक-गुण' कहे जाते हैं। दोषों की संख्या के अनुसार ही ये 'दोषगुण' चौबालीस कहे गए हैं। दोषों में गुणता स्वीकार करना प्रकाशवर्ष की अपनी विशिष्ट गुणग्राहकता है। उनकी सुदृढ़ अवधारणा है कि सन्निवेश की विशेषता के कारण पुष्पों की माला के बीच गुंथे हरे पत्ते के समान कहीं-कहीं सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। रमणी के नेत्रों में लगे काले अंजन के सदृश कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण भी दोष रमणीयता धारण कर लेता है।

'रसार्णवालङ्कार' का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए एक और नवीन तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि प्रकाशवर्ष ने 'अलंकार-तत्त्व' को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया है, जो उसको भरत से लेकर विश्वेश्वर तक उपलब्ध नहीं हुआ था। यद्यपि 'रस' काव्य की आत्मा है तथापि उस रस की प्राप्ति का साधन दोषप्रमोष और गुणोपादान है, साथ ही **अलङ्कारयोग** भी है। निश्चय ही जिसप्रकार कामिनी का शरीर निसर्ग सुन्दर होने पर भी अलङ्कारों के संयोग से प्रकर्षाधायक हो जाता है उसी प्रकार काव्यशरीर निर्दोष व सगुण अर्थात् रसान्वित होने पर भी अलंकारों के योग से उत्कर्षाधायक हो जाता है। निसर्ग-रमणीक लावण्य की तिरोधायकता तो अलंकारों के बिना होती है, शरीर अलंकारों से युक्त होने पर ही सौन्दर्याधायक होता है अतएव अलंकारों की अतिशय स्तुति है। रसवादी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विचारकों ने कभी भी अलंकार को रस-गुणादि तत्त्वों से बढ़कर नहीं माना था, किन्तु प्रकाशवर्ष को तो 'रसार्णव' में 'अलंकार' अति अभिप्रेत है। अतः काव्यपरम्परा में उनकी यह अलङ्कारविषयक सूक्ष्मावगाहिनी चिन्तनधारा सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मान्य है। उन्होंने सुन्दरी के शरीर हेतु बाह्य, आन्तर और आभ्यन्तर-त्रिविध अलंकारों की योजना कही है, उसी प्रकार काव्यशरीरहेतु उक्त त्रिविध अलंकार-योजना की है। जैसे नारी-शरीर

पर पुष्पादि बाह्य द्रव्य पृथक् रूप से अवभासित होते हैं; नखोल्लेख, अलकादि स्वीय अवयवों के संस्कार से शोभा के जनक होते हैं; तथा धूप, आस्यवास आदि बाह्य भी पदार्थों से रचित तन्मयता को प्राप्त होते हैं; ठीक वैसे ही काव्यशरीर पर बाह्यतः 'शब्दालङ्कार' भासित होते हैं ; 'अर्थालङ्कार' अर्थ-परामर्श से स्फुटित होते हैं ; तथा 'उभयालंकार' द्विगुणीभूत हो जाते हैं और सहृदय को आनन्दानुभूति प्रदान करते हैं।

शब्दालङ्कारों के उल्लेख में प्रकाशवर्ष का प्रयोग चामत्कारिक है। भरत से मम्मट तक शब्दालङ्कारों की संख्या पाँच-छः तक रही है, किन्तु प्रकाशवर्ष ने अठारह शब्दालंकार स्वीकार किए हैं। उन्होंने जाति आदि के साथ रीति और वृत्ति को भी शब्दालंकार स्वीकार किया है। वामन ने केवल वैदभी, पांचाली और गौडी-ये तीन रीतियाँ कही हैं, जबकि प्रकाशवर्ष ने उनमें लाटी और अवन्ती-ये दो रीतियाँ अपनी ओर से जोड़ दी हैं। लाटी का प्रयोग तो सर्वप्रथम रुद्रट ने किया था, किन्तु प्रकाशवर्ष ने अवन्ती अपनी ओर से कही है। इसीप्रकार प्रकाशवर्ष ने सर्वप्रथम 'वृत्ति' को शब्दालंकार मानकर उसकी संख्या पाँच की है। उन्होंने भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी-इन चार प्रसिद्ध वृत्तियों में एक 'साधारणी' नाम की वृत्ति और जोड दी है। यहाँ यह विशेषता प्रकट की है कि 'साधारणी' वृत्ति का लक्षण आचार्य 'महाभामह' द्वारा कथित उद्धृत किया है। 'प्रश्नोत्तर' नामक शब्दालङ्कार में धर्मदासूरीकृत 'विदग्धमुखमण्डनम्' ग्रन्थ को उद्धृत कर अपने मन्तव्य की ऐतिहासिकता बताई है। 'प्रहेलिका' को शब्दालङ्कार की मान्यता देते हुए भी रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' ग्रन्थ का उल्लेख कर प्रकाशवर्ष ने अपने मत को प्रमाणिक बनाया है। चित्रकाव्य को स्वीकार कर उन्होंने शब्दालङ्कार की श्रीवृद्धि की है। अर्थालङ्कारों को तो उन्होंने चैतन्य कहा है, मनोहर कहा हैं उनके अनुसार यद्यपि अर्थानुसार अर्थालंकार अनन्त हो सकते हैं, तथापि अट्ठाईस प्रकार के अलंकार कहे हैं। इस संदर्भ में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने काव्य को दर्शन से गुम्फित किया है। दर्शन का विशेष पक्ष जो प्रमाण-विचार है जिससे प्रमेयसिद्धि होती है, उस प्रमाणविचार को भी अलंकारों का रूप देकर प्रकाशवर्ष ने अलङ्कारशास्त्र में एक चमत्कारी कदम उठाया है जो परवर्त्ती आचार्य अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' में अनुसृत हुआ है।

काव्य-प्रयोग का प्रयोजन सहृदय को रसास्वादन कराना ही होता है। काव्य-रस का यह आस्वादन अथवा मनोरंजन उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार जीवात्मा सांसारिक भोगों का मनोरंजन करता है। रसास्वादन के विषय में प्रकाशवर्ष ने एक मौलिक चिन्तनधारा को प्रस्तुत किया है कि काव्यरस का आस्वादन यद्यपि भिन्न-भिन्न रुचियों एवं प्रवृत्तियों के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से ही करते हैं, तथापि रतिसर्वस्व '**शृङ्गाररस**' की अभिव्यक्ति सार्वभौम व सार्वकालिक होती है अतएव 'शृङ्गाररस' सर्वग्राह्य है, सतत प्रयोगशील है। 'शृङ्गाररस' उनके मत में 'रसार्णव' है, उसमें निर्दोषता, सगुणता के साथ अलंकाराभियोग अपरिहार्य है। इस

प्रकार प्रकाशवर्ष ने दोषप्रमोष, गुणोपादान, अलंकाराभियोग और रसान्वय को काव्य के अपरिहार्य तत्त्व स्वीकार कर काव्य के स्वरूप को एक नवीनता दिग्दर्शित की है।

॥श्रीगुरुः शरणम्॥

मदन मोहन अग्रवाल

प्रकाशवर्षविरचितः

रसार्णवालङ्कारः

मूलमात्रम्

श्रीगुरुः शरणम्

प्रकाशवर्षविरचितः

रसार्णवालङ्कारः

•

प्रथमः परिच्छेदः

दोषप्रमोषो नाम

दोषाणां त्रैविध्यम्

श्रीरस्तु

पदे वाक्येऽथ वाक्यार्थे दोषवर्गस्त्वयं त्रिधा।
क्रमशः पूर्वभङ्ग्या तु तत्प्रपञ्चः प्रकीर्त्यते।।1।।

चतुर्दश पददोषाः

असाधु चानिवद्धं च कष्टं क्लिष्टमनर्थकम्।
अपुष्टार्थं च गूढार्थमप्रतीतं ससंशयम्।।2।।

नेयार्थमसमर्थं च यच्च तत्राप्रयोजकम्।
देश्यं ग्राम्यमिति[1] स्पष्टं पददोषाश्चतुर्दश।।3।।

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तद**साधु** निगद्यते।
न प्रयुक्तं [2]कवीन्द्रैर्य**दनिबद्धं** तदुच्यते।।4।।

[3]प्रयासोच्चार्यवर्णस्तु **कष्टं** श्रवणदुर्भगम्।
पारम्पर्येण चार्थस्य सूचकं **क्लिष्ट**मुच्यते।।5।।

पादपूरणमात्रं यत् तच्च [4]भवे**दनर्थकम्**।
वाच्यतुच्छतया क्लिष्ट**मपुष्टार्थं** मनीषिभिः।।6।।

---

1. दो ० ० पमिति।
2. (कृतीन्? कवीन्)।
3. प्र ० ० च्चार्यवर्णस्तु।
4. तच्च ० ० दनर्थकम्।

अप्रसिद्धार्थसम्वद्धं **गूढोक्ति**रभिधीयते ।
शास्त्र [5]एव प्रयुक्तं य**दप्रतीतं** तदुच्यते । ।7 । ।

यत्रार्थान्तरसम्वन्धस्तद् वदन्ति **ससंशयम्** ।
स्वयं कल्पितसङ्केतं **नेयार्थम**भिधीयते । ।8 । ।

असमर्थं तु यद् वद्धं रूढिवर्त्मव्यतिक्रमात् ।
विवक्षितप्रमेयस्य नोपकार्य**प्रयोजकम्** । ।9 । ।

देश्य[6]मथवा यन्न्यस्तं देशरूढिगतं पदम् ।
असभ्यामङ्गलं **ग्राम्यं** तथा यच्च घृणाकरम् । ।10 । ।

साक्षात् तत्स्मृतिहेतुत्वात् त्रिविधा [7]त्रिविधा भवेत् ।

चतुर्दश वाक्यदोषाः

शव्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धि पुनरुक्तिमत् । ।11 । ।
व्याकीर्णं भिन्नवृत्तं च सङ्कीर्णं गर्भितं तथा ।
विभिन्नलिङ्गवचनं खञ्जं न्यूनाधिकं भवेत् । ।12 । ।
श्लेषादिगुणहीनं च वाक्यदोषाश्चतुर्दश ।

भिन्नभाषापदाविद्धं **शव्दहीनं** प्रकीर्तितम् । ।13 । ।

शव्दार्थव्युत्क्रमो यत्र **क्रमभ्रष्टं** तदिष्यते ।
विरुद्धसन्धि निस्सन्धि **विसन्धी**ति निगद्यते । ।14 । ।

तादृक् पदपदार्थानां निवन्धे **पुनरुक्तिमत्** ।
अनेकपदसन्तानव्याहतस्मृतिभिः पदैः । ।15 । ।

योजना यत्र तद् वाक्यं **व्याकीर्णम**भिधीयते ।
छन्दोलक्षणहीनं तु **भिन्नवृत्तं** विदुर्वुधाः । ।16 । ।

तद् वर्णयतिभेदेन द्विधा तज्ज्ञैरुदाहृतम् ।
वाक्यान्तरपदोन्मिश्रं यत् तत् **संकीर्ण**मिष्यते । ।17 । ।

5. शास्त्र 0 0 0 युक्तं ।
6. देश्य 0 थवा ।
7. त्रिविधा 0 0 0 भवेत् ।

वाक्यान्तरसगर्भं यत् तद् वाक्यं **गर्भितं** विदुः ।
भिन्नलिङ्गमलिङ्गत्वादुपमानोपमेययोः । ।18 । ।

यस्मिन् वचनवैषम्यमुपमानोपमेययोः ।
तद् **भिन्नवचनं** नाम निवध्नन्ति न साधवः । ।19 । ।

क्रियाविरहितं वाक्यं **खञ्जमि**त्यभिधीयते ।
ज्ञेयं **न्यूनोपमं** न्यूनैरुपमाया विशेषणैः । ।20 । ।

विशेषणाधिकौपम्यं विज्ञेय**मधिकोपमम्** ।
शव्दार्थोभयभेदेन विप्रथन्ते त्रिधा गुणाः । ।21 । ।

तद्विपर्ययतो दोषास्त्रिधा वाक्ये व्यवस्थिताः ।
तत्र शव्दगुणाः श्लेषः समता सुकुमारता । ।22 । ।

अर्थव्यक्तिः प्रसादश्च कान्तिरित्यर्थसंश्रयाः ।
ओजो माधुर्यमौदार्यं समाधिश्चोभयात्मकाः । ।23 । ।

तत्र तच्छिथिलं वाक्यं भवेत् **श्लेषविपर्ययः** ।
विषमं तु तदिच्छन्ति यत्र साम्यविपर्ययः । ।24 । ।

तत् **कठोरं** भवेत् यत्र सौकुमार्यविपर्ययः ।
सन्तः शंसन्ति **नेयार्थ**मर्थव्यक्तिविपर्ययः । ।25 । ।

अप्रसन्नं तदेवाहुर्यः प्रसादविपर्ययः ।
अव्युत्पन्नं तमित्याहुर्यत्र कान्तिविपर्ययः । ।26 । ।

[8]ओजश्शव्दार्थयोः प्रौढिर**प्रौढि**स्तद्विपर्ययः ।
रूढिभङ्गा**दनिर्व्यूढं** माधुर्यस्य विपर्ययः । ।27 । ।

निरलङ्कारमित्याहुरौदार्यस्य विपर्ययः ।
ऋजुमार्ग इति ज्ञेयो निस्समाधिर्गिरां क्रमः । ।28 । ।

षोडश वाक्यार्थदोषाः

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
खिन्नं चैवातिमात्रं च विरसं परुषं तथा । ।29 । ।

8. 0 0 शव्दार्थयोः ।

हीनौपम्याधिकौपम्ये तथा विसदृशोपमम् ।
अप्रसिद्धोपमं चैव निरलङ्कारमेव च । ।30 । ।
अश्लीलं च विरुद्धं च वाक्यार्थे षोडश स्मृताः ।

समुदायार्थशून्यं यत्तद**पार्थं** प्रचक्षते । ।31 । ।
यदप्रयोजकं[9] यच्च गतार्थं **व्यर्थमेव** च ।
[10]उक्त्यभिन्नार्थ**मेकार्थं** व्याहरन्ति विशारदाः । ।32 । ।

ससंशयं तु तत् प्राहुर्यत्रार्थस्य न निश्चयः ।
अपक्रमं तु तद् यत्र पौर्वापर्यविपर्ययः । ।33 । ।

जात्याद्युक्तावनिव्यूढं[11] **खिन्नमि**त्यभिधीयते ।
लोकातीत इवार्थो यः सोऽ**तिमात्र** इहेष्यते । ।34 । ।

अप्राकृतरसं ज्ञेयं **विरसं** रसकोविदैः ।
अतिक्रूरस्तु वाक्यार्थः **परुषो** विदुषां मतः । ।35 । ।

हीनं यत्रोपमानं स्यात् सोऽर्थो **हीनोपमः** स्मृतः ।
यत्रोपमानमधिकं तज्ज्ञेय**मधिकोपमम्** । ।36 । ।

अतुल्यमुपमानं चेद् भवेद् **विसदृशोपमम्** ।
अप्रसिद्धोपमानं चे**दप्रसिद्धोपमं** तु तत् । ।37 । ।

निरलङ्कारमित्याहुरलङ्कारविवर्जितम् ।
यदसभ्यार्थसम्बद्धं त**दश्लीलमु**दाहृतम् । ।38 । ।

प्रत्यक्षसिद्धिव्याहतं वस्तु **विरुद्धम**भिधीयते ।
प्रत्यक्षादिप्रभेदेन त्रिधा शास्त्रविदो विदुः । ।39 । ।

प्रत्यक्षव्याहतं [12]देशकाललोकविरोधकृत् ।
युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञानं विरोधस्त्वनुमानभूः । ।40 । ।

धर्मार्थकामशास्त्राणां विरोधस्त्वागमोद्भवः ।
एवं त्रयमपि त्रित्वान्नवतां प्रतिपद्यते । ।41 । ।

---

9. यदप्रयोजनं ।
10. उक्ताभिन्नार्थमेकार्थं ।
11. जात्याद्युक्ता 0 0 0 ढं ।
12. 0 0 0 ललोकविरोधकृत् ।

तत्र देशविरुद्धं तद् यत्राभावेन[13] यद् भवेत् ।
[14]तत्र कालविरुद्धं तद् यत्राकालेन यद् भवेत् । ।42 । ।
तच्च लोकविरुद्धं यत् सर्वलोकैरसम्मतम् ।
तत्तु युक्तिविरुद्धं स्यादविचारेण यत् कृतम् । ।43 । ।
तदौचित्यविरुद्धं स्यात् पात्रे [15]यद्यथ नोच्यते[16] ।
तत्प्रतिज्ञाविरुद्धं स्यात् प्रतिज्ञा येन बाध्यते । ।44 । ।
धर्मशास्त्रविरुद्धं यज्ज्ञेयं धर्मविरोधि तत् ।
अर्थशास्त्रविरुद्धं तज्ज्ञेयं नीतिवहिष्कृतम् । ।45 । ।
कामशास्त्रकलाशास्त्रविरुद्धं यन्निबध्यते ।
कामशास्त्रविरोधीति तत्सर्वमभिधीयते । ।46 । ।

। । इति रसार्णवालङ्कारे दोषप्रमोषो नाम प्रथमः परिच्छेदः । ।

---

13. यत्र 0 0 न ।
14. मूले नास्ति ।
15. यद्य (?) ।
16. नो 0 0 ।

द्वितीयः परिच्छेदः

गुणोपादानं नाम

काव्ये गुणयोगमहत्त्वम्

[17]निर्दोषस्यापि काव्यस्य गुणोपादानमन्तरा ।
[18]शब्दार्थजकलालोकः साधुत्वं नानुमन्यते । ।1 । ।

न हि कुष्ठादिभिर्दोषै रहितं कामिनीवपुः ।
नृत्तगीतादिचातुर्यगुणान् नाद्रियते क्वचित् । ।2 । ।

द्वाविंशतिः शब्दगुणाः

तेषु शब्दगुणास्तावत् द्वाविंशतिरुदीरिताः ।
ते च सान्वयनामानो निगद्यन्ते मनीषिभिः । ।3 । ।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता । ।4 । ।

ओजश्च पुनरौर्जित्यमथ प्रेयः सुशब्दता ।
समाधिः सौक्ष्म्यगाम्भीर्ये संक्षेपो विस्तरस्तथा । ।5 । ।

सामित्यं भाविकत्वं च रीतिरुक्तिस्तथैव च ।
एष [19]उक्तो गुणोद्देशो निर्देशोऽत्र निगद्यते । ।6 । ।

यत्र वन्धोऽतिसंश्लिष्टः स **श्लेषः** कविभिः स्मृतः ।
प्रसिद्धार्थपदन्यासः[20] **प्रसाद** इति कीर्तितः । ।7 । ।

वन्धो मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णजन्मा न सङ्करः ।
भजते यत्र सोद्भेदं तत् **समत्व**मुदीर्यते । ।8 । ।

अर्थोचितवचोवन्धो **माधुर्य**मभिधीयते ।
अकठोराक्षरन्यासः **सौकुमार्य**मुदाहृतम् । ।9 । ।

17. निर्दिष्टस्यापि ।
18. शास्त्रार्थ 0 0 लालोकः ।
19. 0 0 गुणोद्देशो ।
20. प्रसिद्धार्थपदन्यासात् ।

द्वितीयतुल्यवर्णानां[21] सर्वे चासमयोगिनः ।
सौकुमार्येण वाध्यन्ते निर्विन्दुर्गुरुसंयुक्तः । ।10 । ।

रेफद्वयसमोपेतो [22]नैकत्र क्वचिदिष्यते ।
न चैकलक्षणन्यासो वहुषु स्यान्निरन्तरः । ।11 । ।

नागदेकोऽपि वहवो विना [23]चित्रवर्णधनात् ।
स्वयं रेफो मृदुः किन्तु कठोरयति योगिनाम् । ।12 । ।

अन्योन्यमृदुसंयोगः स्वल्पो दोषाय कल्पते ।
काठिन्यलक्षणं तत्र हन्तुं युक्त्यापि शक्यते । ।13 । ।

अतिप्रसङ्गदोषस्तु प्रतीत्यैव निरस्यते ।
अयमेव स्वगद्धान्तः पूर्वमेवावलम्वितः । ।14 । ।

अर्थव्यक्तिं तु विद्वान्सः प्राहुः सम्पूर्णवाक्यताम् ।
वन्धस्योज्ज्वलता[24] **कान्ति**स्स्फुरणादभिधीयते । ।15 । ।

वदन्ति वन्धवैकट्य**मौदार्यं** कविपुङ्गवाः ।
श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्त**मुदात्त**मिति तद् विदुः । ।16 । ।

ओजस्समासभूयस्त्वं तद्द्वन्द्वा पदपद्धतिः ।
वन्धगाढत्व**मौर्जित्यं** समासे व्यास एव[25] च । ।17 । ।

प्रेयार्थपदविन्यासः **प्रेयः** कविभिरिष्यते ।
या सुवन्ततिङन्तानां व्युत्पत्तिः सा **सुशब्दता** । ।18 । ।

समाधिरन्यधर्मस्य भवेदन्यत्र रोपणम् ।
सौक्ष्म्यमाहुस्तु शब्दानां अन्तःसञ्जल्परूपताम् । ।19 । ।

ध्वनिमत्ता तु **गाम्भीर्यमा**र्यैरेष गुणः स्मृतः ।
अभिधानं समासेन **संक्षेपः** परिकीर्तितः । ।20 । ।

व्यस्तं **विस्तार** इत्याहुरभिधानविशारदाः ।
यावदर्थपदत्वं हि **सम्मितत्वं** निगद्यते । ।21 । ।

21. द्वितीयतुल्या 0 0 नां ।
22. नै 0 0 क्वचिदिष्यते ।
23. चित्र 0 0 धनात् ।
24. वन्धस्यां 0 0 0 ।
25. व्यास 0 0 च ।

भावाभिव्यञ्जका वाणी **भाविकत्व**मुदाहृतम् ।
उपक्रमस्य निर्वाहो **रीति**रित्यभिधीयते । ।22 । ।

[26]अर्थान्तरेण चार्थस्य भणना**दुक्ति**रिष्यते ।

द्वाविंशतिरर्थगुणाः

एतेऽप्यर्थगुणास्तज्ज्ञैर्द्वाविंशतिरुदाहृताः । ।23 । ।
तेषां च लक्षणं ब्रूमस्तत्सद्भिः परिभाव्यताम् ।
[27]संविधानसुसूत्रत्वं तेषु **श्लेषो**ऽभिधीयते । ।24 । ।

यत्र प्रकट एवार्थः स **प्रसादो** गुणः स्मृतः ।
अवैषम्यं क्रमस्थानां **समतेति** सतां मतिः । ।25 । ।

[28]क्रोधादावप्यतीव्रत्वं **माधुर्यम**भिधीयते ।
मनोज्ञता पदार्थानां **सौकुमार्य**मुदाहृतम् । ।26 । ।

अर्थव्यक्तिः पदार्थानां स्वरूपकथनं विदुः ।
उद्दीप्तरसतां **कान्ति**मामनन्ति विशारदाः । ।27 । ।

उदारत्वमिति प्राहुः उत्कर्षं विभवस्य तु ।
धीमद्भिराशयोत्कर्ष **उदात्तत्व**मुदीर्यते । ।28 । ।

प्रारम्भेषु च [29]संकल्प **ओजः** सुकवयो विदुः ।
रूढाहङ्कार**तौर्जित्य**मभङ्गुरमिहोच्यते । ।29 । ।

प्रेयः प्रियपदार्थानामुपन्यासः प्रकीर्तितः ।
पदैरदुष्टैः कथनं दुष्टार्थस्य **सुशब्दता** । ।30 । ।

व्याजेनान्यार्थभजनं **समाधि**रभिधीयते ।
सूक्ष्मार्थदर्शनं **सौक्ष्म्यं** व्याहरन्ति विशारदाः । ।31 । ।

शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं **गाम्भीर्यमि**ति कीर्तितम् ।
वहोरर्थस्य सङ्कोचः **सङ्क्षेप** इति कीर्तितः । ।32 । ।

26. (विना?) न्तरेण ।
27. सपिधानसुसूत्रत्वं ।
28. क्रोधादवाप्य तीव्रत्वं ।
29. सं 0 0 0 जः ।

विस्तारं पुनरर्थस्य **विस्तरं** तद्विदो विदुः ।
अनुरूपगुणारोप**सम्मितत्वं** तदुच्यते । ।33 । ।

भावयुक्तत्वमाचार्यै**र्भाविकत्व**मिति स्मृतम् ।
रीतिमाहुः पदार्थानामुत्पत्त्यादिक्रियाक्रमम् । ।34 । ।

संवृतासंवृतप्राय**मुक्ति**रर्थस्य बोधनम् ।

दोषाणां गुणत्वे दोषगुणाः
वैशेषिका गुणाः

दोषाणामपि येषां स्यात् गुणत्वं कारणात् क्वचित् । ।35 । ।
चत्वारिंशत् तदुच्यन्ते ते च वैशेषिका गुणाः ।

चतुर्दश पदगता दोषगुणाः

पदं याति गुणीभावमनुकर्तु**रसाध्वपि** । ।36 । ।
यथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते ।
[30]तथानुकरणे दृष्ट**मनिबद्ध**निवन्धनम् । ।37 । ।

श्रुतेरवल्लभं **कष्टं** तत्र दुर्वाचकादिषु ।
अपि **क्लिष्टं** गुणायेष्टं झटित्यर्थप्रतीतिकम् । ।38 । ।

अनर्थकं न दुष्टं स्याद् यमकाद्युपयोगि यत् ।
सद्भिरिष्टम**पुष्टार्थं** छन्दसंस्कारकारणम् । ।39 । ।

पदान्तरप्रतीत्यर्थं **गूढार्थ**मपि सुन्दरम् ।
अप्रतीतं तु तद् विद्याद् गोष्ठीष्वेव गुणावहम् । ।40 । ।

सन्दिग्धं प्रकरणादिविशेषावगमो गुणः[31] ।
यद्वा तथाविधार्थस्य विवक्षायामिति स्थितिः । ।41 । ।

प्रहेलिकादिवाक्येषु **नेयार्थम**पि शोभते ।
असमर्थमपि [32]प्रायो गुणायेष्टं मनीषिभिः । ।42 । ।

30. तथा 0 0 0 ।
31. प्रकरणादिविशेपावग 0 0 णः ।
32. प्राय 0 0 वेष्टं ।

अप्रयोजकमिच्छन्ति जात्यादौ तद्विदो गुणम् ।
महाकविमतं **देश्यं** लोकोक्तिच्छायया गुणः । ।43 । ।

[33]संवीतं लक्षितं गुप्तमपि **ग्राम्यं** न दुष्यति ।
संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम् । ।44 । ।

[34]शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ।
लक्षितेषु च शब्दोऽन्यस्तदर्थोऽन्यश्च कश्चन । ।45 । ।

[35]असभ्यस्मृतिहेतुत्वेऽपि वक्रिमा न बाधते ।
निमग्नदूषणं यत्तु तन्नोद्भाव्यं मनीषिभिः । ।46 । ।

किन्तु वैदग्ध्यमुन्मृद्य जठरं व्याधिकोपनात् ।
[36]असभ्यमपि संवीतं गुणमाहुर्मनीषिणः । ।47 । ।

असभ्यस्मृतिहेतोस्तु सिद्धमप्यभिधीयते ।
पात्रावस्थाविशेषेण [37]दोषो योऽमङ्गलं भवेत् । ।48 । ।

अमङ्गलस्मृतेर्हेतुर्गुणोऽसभ्यस्मृतिर्यथा[38] ।
धीमन्तोऽपि निबध्नन्ति गौणवृत्त्या [39]घृणाकरम् । ।49 । ।

उपसंहारः

क्वचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् । ।50 । ।

[40]सन्निवेशविशेषाच्च दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं [41]पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव । ।51 । ।

गुणत्वं पददोषाणां दिङ्मात्रेण प्रदर्शितम् ।

चतुर्दश वाक्यगता दोषगुणाः

इदानीं वाक्यदोषाणामपि किञ्चित् प्रचक्ष्महे । ।52 । ।

---

33. 0 0 0 लक्षितं ।
34. शिवलिङ्गादिश 0 0 0 स्या सम्यक्त्वभावना ।
35. स्मृतिहेतुत्वयोपं (?) तु वक्रिमा नैव बाधते ।
36. अश्लीलमपि ।
37. दो 0 0 मङ्गलं ।
38. अमङ्गलस्मृतेर्हेतुर्गुणो सभ्यस्मृतिर्यथा ।
39. घृ 0 0 0 ।
40. 0 0 वशविशेषाच्च ।
41. च पाशमाबद्धमन्तराले ।

शब्दहीनं न दोषाय भाषाचित्रेषु कल्पते ।
यत्नः सम्बन्धनिर्ज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि । ।53 । ।

क्रमभ्रंशमपि प्राहुर्न दोषं सूरयस्तदा ।
न संहितां [42]विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत् । ।54 । ।

तद् **विसन्धीति** निर्दिष्टं न [43]प्रगृह्यादिहेतुकम् ।
अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते[44] । ।55 । ।

न दोषः [45]**पुनरुक्तोऽपि** प्रत्युतेयमलङ्कृतिः ।
व्याकीर्णं तु न दोषाय द्राक् प्रतीतिकरं भवेत् । ।56 । ।

यदोच्चारणभङ्गः स्यात् [46]संयोगादेरगौरवम् ।
न **छन्दोभङ्ग**मप्याहुस्तदा दोषाय सूरयः । ।57 । ।

धातुभेदेन दुष्येत [47]स्वरसन्ध्यकृतेन च ।
नामभेदे च शेषेषु न [48]दोष इति तद्विदः । ।58 । ।

लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।
तथा सन्धिविहीनं तत् पदमेवेति वर्ण्यते । ।59 । ।

पर्यायेण द्वयोर्यत्र वाक्यं प्रश्नोत्तरादिषु ।
संकीर्णं तन्न [49]दोषाय वाकोवाक्यविदो विदुः । ।60 । ।

[50]वाक्यान्तरसगर्भं यत्तद् **गर्भितं** विदुर्बुधाः ।
रसान्तरतिरस्कारे तदिष्टं नेष्टमन्यथा । ।61 । ।

[51]यत्तन्न **भिन्नलिङ्गत्वं** यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।
न **भिन्नवचने**ऽप्येवं दोषमिच्छन्ति कोविदाः । ।62 । ।

न **खञ्जमपि** दोषाय क्रियापेक्षा न यत्र तु ।
यत्रास्त्यादेरपेक्षा वा यत्र वा स्फूर्जितं ध्वनेः । ।63 । ।

---

42. विचक्ष्यामित्यसन्धानं ।
43. प्रगृह्या 0 0 0 कम् ।
44. कश्चित् विवक्षते ।
45. पुनरुक्तेऽपि ।
46. संयोगादेर 0 0 0 ।
47. स्वरसन्धिकृता 0 0 ।
48. देश ।
49. दोषा 0 0 0 0 0 0 0 0 0 ।
50. - - - - - - - - - - - विदुर्बुधाः ।
51. 0 0 0 भिन्नलिङ्गत्वं ।

न्यूनोपममपि प्रायः सुप्रसिद्धं न दुष्यति।
[52]सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।।64।।

यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु[53] प्रयुज्यते।
अखण्डमण्डलः क्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति।।65।।

यत्किञ्चित्कान्तिसाम्यात्तु शशिनैवोपमीयते।
एवमेवा**धिकौपम्ये** न दोषं तद्विदो विदुः।।66।।

सुकुमारार्थवन्धेषु गौडैश्**शिथिल**मिष्यते।
अनुप्रासधिया ते हि वन्धवैदग्ध्यनिस्पृहाः।।67।।

[54]प्रकृतिस्थादिभेदेन यदि वा कविकौशलात्।
सर्वे क्वचिद् क्वचिद् दोषा लभन्ते गुणताममी।।68।।

गणयन्ति न **वैषम्यं** शव्दाडम्वरतत्पराः।
अर्थलेशं च गौडाश्चेल्लभन्ते किमतः परम्।।69।।

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना **कठोरमपि** वध्यते।
शव्दशक्तेः प्रतीतिश्चे**न्नेयार्थं** नैव दुष्यति।।70।।

अप्रसन्नमपि प्रायश्चित्रादाविति निश्चयः।
पात्रौचित्येन [55]हास्यादा**वव्युत्पन्न**मपीष्यते।।71।।

अप्रौढिमपि शंसन्ति शृङ्गारादिषु तद्विदः।
रसातिशयसन्धाना**दनिर्व्यूढं** न दोषकृत्।।72।।

पूर्वोक्तरार्थसन्धाने **निरलङ्कार**मिष्यते।
रसालङ्कारपुष्टत्वा**दृजुमार्गो** गुणावहः।।73।।

षोडश वाक्यार्थगता दोषगुणाः

अथ वाक्यार्थदोषाणामदोषः प्रतिपद्यते।
मत्तोन्मत्तादिवाक्येषु **नापार्थमपि** दुष्यति।।74।।

52. ० ० सर्वेण।
53. कृतिभिरुपमानं।
54. ० ० ० स्थादिभेदेन।
55. हास्यादा ० ० त्पन्नमपीष्यते।

तत्र प्रत्युत सूक्तार्थो निहन्ति **निहतं रसम्**।
तथैव **व्यर्थमि**च्छन्ति व्यपेतस्मरणाय च।।75।।

रसाक्षिप्तधियं वाक्यं **नैकार्थमपि** दुष्यति।
संशयायैव **सन्दिग्धं** यदि जातु प्रयुज्यते।।76।।

स्यादलङ्कार एवासौ न दोष इति मे मतिः।
[56]**सोऽपक्रमो**ऽपि वाक्येषु चित्रहेतौ न दुष्यति।।77।।

न **खिन्नमपि** दोषाय यत्र च्छाया न हीयते।
[57]लोकातीत इवार्थो यः सोऽतिमात्र इहेष्यते।।78।।

वार्तादौ तेन तुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः।
इति [58]सम्भाव्यमेवैतद् विशेषाख्यानसंस्कृतम्।।79।।

कान्तं भवति सर्वस्य लोकसीमानुवर्त्तिनः।
अत्युक्तिरिति गौडीयैर्लौकिकार्थव्यतिक्रमे।।80।।

ललितो मार्ग इत्यस्मि**न्नतिमात्रम**पीष्यते।
विरुद्धे लक्षणादौ तु **परुषं** नैव दुष्यति।।81।।

हीनोपमं न दोषाय यत्रोद्वेगो न धीमताम्।
तथाधिकौपमस्यापि न दोष इति तद्विदः।।82।।

[59]न दो**षोऽसदृशोपमं** व्यतिरेकोपमादिषु।
कदाचित् कविकौशल्या**दप्रसिद्धोपमं** गुणः।।83।।

झटिति प्रतिपत्तिः स्याद् [60]यत्रोऽसिद्धोपमादिषु।
यत्र स्याद् गुणवाहुल्यं रसो वापि परिस्फुटः।।84।।

दोषाय **निरलङ्कारं** तत्र शंसन्ति साधवः।
महाकविपथा[61]दोषम**श्लीलम**पि वध्यते।।85।।

नास्ति दे**शविरोधो**ऽपि दूषणं कविकौशलात्।
दोषः काले विरोधेऽपि न कार्यान्तरहेतुतः।।86।।

56. अथेदमपि।
57. मूले नास्ति।
58. सम्भा ० मेवैतद्।
59. न दो ० ० ० (दृ)शोपम्यातिरेकोपमादिषु।
60. यत्रो ० ० पमादिषु।
61. महाकविपथा ० ० ० श्लीलमपि।

न च लोकविरोधोऽपि तात्पर्ये दोषभाग् भवेत् ।
तथा युक्तिविरुद्धस्य गुणत्वं क्वचिदिष्यते । ।87 । ।

क्वाप्यौचित्यविरोधो [62]न दोषोऽवस्थान्तरा भवेत् ।
न प्रतिज्ञाविरोधेऽपि दोषो विधुरचेतसाम् । ।88 । ।

अस्ति काचिदवस्था सा या सरागस्य चेतसः ।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती । ।89 । ।

धर्मशास्त्रविरोधोऽपि न दोषः पुण्यतेजसाम् ।
स हि तत्र प्रसिद्धत्वात् परमोत्कर्षकारणम् । ।90 । ।

तेषां तेजोविशेषेण [63]विघ्नादयो न विद्यते ।
अर्थशास्त्रविरुद्धेऽपि दोषो नोर्जितभाषणे । ।91 । ।

कामशास्त्रविरुद्धेऽपि न [64]दोषो गुणापेक्षया ।
रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः । ।92 । ।

कलाशास्त्रविरोधोऽपि क्वचिद् दोषाय नेष्यते ।93अ ।

। । इति रसार्णवालङ्कारे गुणोपादानं नाम द्वितीयः परिच्छेदः । ।

62. क्वाप्यौचित्यविरोधो 0 0 0 वस्थान्तरा ।
63. 0 0 0 यो ।
64. न दो 0 0 0 पेक्षया ।

तृतीयः परिच्छेदः

शब्दालङ्कारप्रकाशनं नाम

काव्येऽलङ्कारयोगमहत्त्वम्

अथोन्मथितदोषस्य न्यस्ताशेषगुणस्य च[65] ।
[66]काले काव्यशरीरस्य चारुतोत्कर्षहेतवे । ।1 । ।

ज्ञेयोऽलङ्कारयोगोऽयं कामिनीवपुशो यथा ।
[67]निसर्गसुन्दरस्यापि प्रकर्षाधायको ध्रुवम् । ।2 । ।

निसर्गरम्यलावण्यतिरोधायकता तु यैः ।
उक्तालङ्कारवपुशः[68] तेषामतिशयस्तुतिः । ।3 । ।

स्वभावरमणीयत्वं विनालङ्कृतयो वृथा ।
लोलस्तनतटन्यस्तो हारो हरत्येव मनः[69] । ।4 । ।

बाह्य-आन्तर-बाह्यान्तरभेदेनालङ्काराणां शब्दार्थोभयसंज्ञाः

अलङ्कारास्तु नारीणां शरीरे त्रिविधाः स्मृताः ।
बाह्यास्तथान्तराः केचित् तथा बाह्यान्तरा इति । ।5 । ।

तत्र ता रचिता बाह्यद्रव्यैर्बाह्या इति स्मृताः ।
पृथक्त्वेनावभासन्ते वस्त्रहारपुष्पादयः[70] । ।6 । ।

स्वीयावयवसंस्कारजन्मानः पुनरान्तराः ।
स्वरूपशोभाजनका नखोल्लेखालकादयः[71] । ।7 । ।

बाह्यैरपि पदार्थैस्तु कृतास्तन्मयतां गताः ।
धूपास्यवासप्रमुखा ज्ञेया बाह्यान्तरा इति । ।8 । ।

65. न्यस्ताशेपगुण 0 0 ।
66. 0 0 काव्यशरीरस्य ।
67. 0 0 0 सुन्दरस्यापि ।
68. उक्तालङ्कारव 0 0 ।
69. ह 0 0 0 0 नः ।
70. वस्त्रह 0 0 0 दयः ।
71. नखोल्लेखालका 0 0 ।

तथा काव्यशरीरेऽपि भासन्ते वाह्यतोऽपि ये ।
सर्वेऽपि शब्दालङ्कारास्ते वाह्या इति कीर्तिताः । ।9 । ।

स्फुरन्त्यर्थपरामर्शादर्थालङ्कृतयस्तु याः ।
आत्मनान्तःप्रतीतत्वादान्तरा इति ता स्मृताः । ।10 । ।

शब्दोत्कर्षं वितन्वानाः शब्दालङ्कृतयो मताः ।
अर्थोत्कर्षनिमित्तत्वादर्थालङ्कृतयः पुनः । ।11 । ।

उभयालङ्क्रियास्त्वत्र द्वयालङ्कारहेतवः ।

अष्टादश शब्दालङ्काराः

जाती रीतिश्च वृत्तिश्च रचना घटना तथा । ।12 । ।

मुद्रा च्छाया तथा युक्तिर्भणितिः श्रव्यतापि च ।
श्लेषश्चित्रं तथौचित्यं प्रश्नोत्तरप्रहेलिके । ।13 । ।

अनुप्रासोऽथ यमकं गूढोक्तिरिति कीर्तितम् ।
शब्दालङ्कृतयः स्पष्टमष्टादश मनीषिभिः । ।14 । ।

संस्कृतप्राकृतादिर्वा तत्र **जाति**रिति स्मृता ।
शुद्धा साधारणी चेति तस्या हि[72] द्विविधं मतम् । ।15 । ।

देशरूच्या वचोन्यासो **रीति**रित्यभिधीयते ।
तत्प्रभेदांस्तु सर्वज्ञादृते को वक्तुमीश्वरः । ।16 । ।

उच्यते रीतयस्तत्र तथापि प्रस्फुटान्तराः ।
वैदर्भगौडपाञ्चाल--लाटावन्तिसमाश्रयाः । ।17 । ।

तत्रासमासा वैदर्भी प्रायो बहुसा शृङ्गारगुणान्विता ।
साक्षान्निवसति प्रायो विदर्भेषु मनोभवः । ।18 । ।

अतो वैदर्भगर्भा गीः शृङ्गारस्याङ्गतां गता ।
निसर्गतो हि वालानामपि वक्रः परिक्रमः । ।19 । ।

यस्यां समासवाहुल्यं वर्णानुप्राससङ्कुलम् ।
वन्धवैदग्ध्यवन्ध्यासौ गीतिर्गौडीति कथ्यते । ।20 । ।

समस्तैर्जायते रीतिः पाञ्चाली पञ्चभिः पदैः ।
संक्षेपगुणहेतुत्वादियं सर्वजनप्रिया । ।21 । ।

72. तस्या 0 ।

[73]समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटी चतुरवल्लभा ।
हृद्या वाटीव लावण्यसम्पदामास्पदं परम् । ।22 ।

आवन्तिका त्वियं रीतिरुक्तलक्षणलक्षिता ।
भात्यतीव सुधाविन्दुस्यन्दिनी यत्र पद्धतिः । ।23 । ।

रसोचितार्थसम्वन्धपदसन्तानशालिनी ।
मनोविकाससङ्कोचवर्त्तनाद् **वृत्ति**रुच्यते । ।24 । ।

कैशिक्यारभटी चैव भारती सात्वती तथा ।
तथा साधारणी चास्या भेदाः पञ्च प्रपञ्चिताः । ।25 । ।

सुकुमारार्थसन्दर्भनिवद्धा कैशिकी स्मृता ।
अत एव हि लास्याङ्गं विवुधैरियमुच्यते । ।26 । ।

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या वहुनृत्तगीता[74] ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा[75] तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति । ।27 । ।

अतिप्रौढार्थसन्दर्भा वृत्तिरारभटी भवेत् ।
इमां तु [76]वरिवस्याङ्गमङ्गीकुर्वन्ति कोविदाः । ।28 । ।

यदाह-----
[77]प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि च्छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम् ।
[78]चित्राणि नियुद्धानि च यत्र वृत्ति तत् तादृशीमारभटीं वदन्ति । ।29 । ।

अनतिप्रौढसन्दर्भा सुकुमारार्थवर्त्तिनी ।
महापुरुषप्रयोज्या[79] भारती वृत्तिरिष्यते । ।30 । ।

इयं तु धर्मशृङ्गारगरिमाञ्चितचेतसाम् ।
वल्लभा भरताचार्यनाम्ना भारती दर्शिता[80] । ।31 । ।

या वाक्यप्रधाना पुरुषप्रयोज्या[81] स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः[82] । ।32 । ।

73. समस्त 0 0 0 0 र्णा ।
74. या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषयुक्ता स्त्रीसंयुता या वहुगीतनृत्ता ।
75. कामोपभोगप्रभ 0 0 0 र ।
76. तु 0 0 वस्याङ्गमङ्गीकुर्वन्ति ।
77. प्रस्तावपात्रप्लुतलंघितानि ।
78. 0 0 0 नियुद्धानि ।
79. महापुरुष 0 0 ज्या ।
80. 0 0 0 दर्शिता ।
81. भरतप्रयोज्या ।
82. सुनामधेयैर्भरतैः प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत् तु वृत्तिः ।

नातीव सुकुमारा गीरुदारार्थेषु चेद् भवेत् ।
इयं तु सात्वती [83]वृत्तिर्मोदनोद्गारशालिनाम् । ।33। ।

यदाह----
[84]या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः । ।34। ।

यथासम्भवसम्भिन्ना यस्यां चतसृणां गुणाः ।
वृत्तीनां साधु विज्ञेया वृत्तिः साधारणी बुधैः । ।35। ।

सर्वार्थविषया हृद्या नानामार्गविसारिणी ।
इयं तु ललिता नाम कवीनां चित्तहारिणी । ।36। ।

यदाह महाभामहः ----
यत्रारभट्यादिगुणास्समस्ताः, मित्रत्वमाश्रित्य मिथः प्रथन्ते ।
मिश्रेति तां वृत्तिमुशन्ति धीराः, साधारणीमर्थचतुष्टयस्य । ।37। ।

यदाह ----
यच्च वृत्त्यङ्गसन्ध्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं [85]चेत्तदलङ्कारतयैव नः । ।38। ।

अर्थानुकूलः शव्दानां निवेशो **रचना** मता ।
सा तत्स्वरूपपर्यायरचना भवति ध्रुवम् । ।39। ।

उपश्लेषः पदार्थानां **घटनेति** प्रकीर्तिता ।
प्रस्तुताप्रस्तुतातीतपदवाक्यप्रभेदभूः । ।40। ।

साभिप्रायार्थविन्यासो **मुद्रेति** परिकीर्त्यते ।
उपलक्षणमत्रार्थशव्दालङ्करणक्षमः । ।41। ।

विभक्तिर्वचनं चैव संविधानं समुच्चयः ।
तस्या भेदास्तु चत्वारः कोविदैरुपवर्णिताः । ।42। ।

[86]अन्योक्तीनामनुकृतिः **च्छायेति** परिकीर्तिता ।
सा चानन्ता जनानन्त्याद् किञ्चित् तत्रापि कथ्यते । ।43। ।

83. वृत्तिर्मो 0 0 गारशालिनाम् ।
84. या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता त्यागेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा सम्भृतचित्तभावा सा सात्वती नाम भवेत् तु वृत्तिः ।
85. चे 0 0 लङ्कारतयैव ।
86. अन्योक्तिनामनुकृतिः ।

लौकिक- स्खलित- च्छेक- मुग्ध- पोटोक्ति[87] - भेदतः ।
पञ्चधा तत्प्रपञ्चानां परिसंख्या न विद्यते । ।44। ।

अर्थानां च पदानां च योजनं **युक्ति**रुच्यते ।
अर्थानां योजने यत्र शोभा स्यात् पदपद्धतिः । ।45। ।

सा पदस्था पदार्थस्था वाक्यवाक्यार्थगोचरा ।
तथा प्रकरणस्था च प्रवन्धस्थेति षड्विधा । ।46। ।

प्रस्तुतार्थप्रकर्षाय वक्रः परिकरो यदि ।
तदासौ **भणिति**र्नाम शव्दालङ्कार इष्यते । ।47। ।

ततः संभावनेत्येका स्यादसंभावनापि च ।
कल्पना च विरोधश्च चतुर्धा भणितिक्रमः । ।48। ।

स्यान्मनोहारिणी वाणी **श्रव्यता** सापि षड्विधा ।
आशीर्नमस्क्रिया नान्दी वस्तु वीजं प्ररोचना । ।49। ।

अनेकार्थाभिधा स्याच्चेदनेकार्थपदैर्यदि ।
व्युत्पत्त्या वा भवेदाहुस्तं **श्लेषं** कविपुङ्गवाः । ।50। ।

स प्रकृत्या विभक्त्या च पदेन वचनेन च ।
भाषया प्रत्ययेनापि षड्विधो विवुधैः स्मृतः । ।51। ।

चित्रं तु नियमन्यासो वर्णानामीप्सितक्रमे ।
स्वरवर्णगतिस्थानवन्धाकारादिवन्धनात् । ।52। ।

उपकार्योपकारित्वं यत्र शव्दार्थयोर्भवेत् ।
उत्कर्षाधायकं प्राहु**रौचित्यं** तत् प्रकीर्तितम् । ।53। ।

तथाभिधानतद्वन्धभेदात् तद् द्विविधं विदुः ।
तत्र द्वयेऽपि धीमद्भिर्विहितः संभ्रमो महान् । ।54। ।

तथा प्रयोगनिर्भेदः कुशाग्रीयधियां तु यः ।
निकषाय भवेत् तच्च **प्रश्नोत्तरमिति** स्मृतम् । ।55। ।

अस्य निश्शेषभेदानामववोधेऽस्ति चेत् स्पृहा ।
तदालोकयत ग्रन्थं विदग्धमुखमण्डनम् । ।56। ।

व्यापकं लक्षणं किन्तु किञ्चिदस्माभिरुच्यते ।
शक्यं यदनुसारेण सर्वभेदप्रकल्पनम् । ।57। ।

87. वेटोक्ति ।

अन्तः प्रश्नं वहिः प्रश्नमुभयप्रश्नमेव च ।
पृष्टप्रश्नोत्तरप्रश्ने जातिप्रश्नं च षट्क्रमाः । ।58 । ।

प्रश्नं **प्रहेलिका**माहुर्यत्र नोत्तरभाषणम् ।
किन्तु वाक्यार्थ एवासौ दुर्वोधो बोध्यते बुधैः । ।59 । ।

परिवर्तित- विन्यस्त- लुप्त- व्युत्क्रम- विन्दुकैः ।
वर्णैः सा पञ्चधा षष्ठी भवेदर्थप्रहेलिका । ।60 । ।

एकरूपात्तु[88] भिन्नार्था या वृत्तिः शव्दसन्ततेः ।
कविव्युत्पत्तिनिकषं **यमकं** नाम तद् विदुः । ।61 । ।

अव्यपेतं व्यपेताख्यमव्यपेतव्यपेतकम्[89] ।
नियतानियतस्थानभेदात् षोढा तदुच्यते । ।62 । ।

द्विरभ्यास- त्रिरभ्यास- चतुरभ्यासपादजम् ।
अर्द्धाभ्यासभवं[90] चान्यत् सप्तमं स्याद् समुद्गकम् । ।63 । ।

एतेषां तु न कार्त्स्न्येन प्रभेदा वक्तुमीप्सिताः ।
लक्ष्यलक्षणवोधार्थं दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते । ।64 । ।

गुप्तरूपः[91] पदन्यासो **गूढोक्तिः** पञ्चधा भवेत् ।
क्रियाकारकसम्बन्धपादाभिप्रायभेदतः । ।65 । ।

अमी च शव्दालङ्काराः पद्ये गद्ये च कोविदैः ।
कार्या सन्दर्भशोभायै यथौचित्यं यथारसम् । ।66 । ।

वाग्देव्या महत्त्वम्

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते । ।67 । ।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शव्दाह्वयज्योतिरासंसारान्न दीप्यते । ।68 । ।

वाग्देव्या अलङ्कारसौन्दर्यम्

जातिस्तदत्र वाग्देव्या मूर्तिस्तज्ज्ञैरुदीरिता ।

88. 0 0 0 0 त्तु ।
89. व्यपेताख्यमव्यपे 0 0 0 तकम् ।
90. 0 0 भ्यासभवं ।
91. उप्तरूपः ।

रीतयस्त्वङ्गसौन्दर्यं लावण्यमथ वृत्तयः । ।69 । ।

अलङ्कारतयाप्यासां [92]कामचारो वहुविधः ।
वक्तव्यः कामचारश्चेद् विशेषापेक्षया भवेत् । ।70 । ।

रचनाघटने देव्याः कुण्डले परिकीर्तिते ।
दयामुद्रा तु मुद्रैव च्छाया माल्यमुदाहृतम् । ।71 । ।

युक्तिं हारावलीः प्राहुर्भणितिं मेखलां पुनः ।
श्रव्यतां कङ्कणश्रेणिं श्लेषचित्रे तु नूपुरे । ।72 । ।

लीलाकमलमौचित्यं वासः प्रश्नोत्तरं परम् ।
प्रहेलिकां तु पदकमनुप्रासं तु कञ्चुकम् । ।73 । ।

क्रीडाशकुन्तं यमकं गूढोक्तिं केलिकन्दुकम् ।

काव्ये जात्यादीनामुपयोगिता

विजातेर्गौरवं प्रायः क्वापि काव्ये न दृश्यते । ।74 । ।

रीतिस्तु पेशलो मार्गस्स चेन्नास्ति किमस्ति तत् ।
रचना नाम चातुर्यं तां विना कः कवेर्गुणः । ।75 । ।

विना घटनया काव्यं दुर्घटं न विराजते ।
समुद्रत्वं तु नाम्नापि गाम्भीर्यगुणदायकम् । ।76 । ।

विच्छायं यत्तु किं तस्य वार्तयापि मनीषिणः ।
निर्युक्तिकं तु यद् वाक्यं तस्य काऽन्या विगर्हणा । ।77 । ।

भणितिर्वक्रता सा तु विदग्धजनवल्लभा ।
अवक्रभणितेर्दोषः सुन्दर्योऽपि कुलाङ्गनाः । ।78 । ।

न भवन्ति विदग्धानां प्रकामानन्दहेतवः ।
अश्रव्यमिति चेदुक्तं श्रूयते न काव्ये पुनः[93] । ।79 । ।

चित्तसंश्लेषणः श्लेषः चित्रं चित्रैककारणम् ।
विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना । ।80 । ।

विना च श्लेषचित्राभ्यां कीदृशी वाग्विदग्धता ।
अनौचित्यात् किमन्योऽस्ति तिरस्कारः सचेतसाम् । ।81 । ।

92. कामचारं 0 0 0 0 ।
93. 0 0 0 पुनः ।

[94]प्रश्नोत्तरं तु नाम्नैव सुगोष्ठीविनोदकरः ।
क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ।।82।।

लवणेन विना भोज्यं त्यागेन रहितं धनम् ।
अनुप्रासविहीनं तु काव्यं को वाऽभिनन्दति ।।83।।

न तथा वल्लभाश्लेषो न पीयूषरसप्लुतिः ।
यथा भवति मोदार्थमक्लिष्टयमकं वचः ।।84।।

गूढागूढचतुर्थादिवाक्यं कन्दर्पशान्तये ।
यदि वा वल्लभा केलिगोष्ठी भ्रमरसावहम् ।।85।।

यथामति यथाशक्ति यथौचित्यं यथारुचि ।
कवेः काव्यस्य चैतासां प्रयोग उपपद्यते ।।86।।

यादृग् गद्यविधौ बाणः [95]पद्यबन्धे न तादृशः ।
प्रतिमार्गमियान्भेदः [96]विचित्रा हि सरस्वती ।।87।।

काव्ये भाषाप्रयोगः

संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः ।
शक्यो रचयितुं द्वाभ्यां कश्चित्तु पथिभिस्त्रिभिः ।।88।।

संस्कृतेनैव केऽप्याहुः प्राकृतेनैव चापरे ।
साधारणादिभिः केचित् केचन म्लेच्छभाषया ।।89।।

न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत् ।
सङ्कीर्णं [97]नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम् ।।90।।

वदन्ति संस्कृतं देवाः प्राकृतं किन्नरादयः ।
पैशाचाद्यं [98]पिशाचाद्या मागधं हीनजातयः ।।91।।

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य काले प्राकृतवेदिनः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतभाषिनः ।।92।।

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया ।
कथागोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत् ।।93।।

94. प्रश्नोत्तरनाम्ना ० ० गोष्ठीविनोदो न तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
95. पद्यबन्धेन ।
96. सचित्रा ।
97. ना ० ० तेषु ।
98. पिशाचाद्याः ।

शृण्वन्ति लटहं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गूर्जराः[99] ।।94।।

ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
[100]गौडः पठतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ।।95।।

विभाव्यैवं प्रयत्नेन शब्दालङ्कारजातयः ।
यथायोगोपयोगाय विज्ञेया कविपुङ्गवैः ।।96।।

उपसंहारः

एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं माल्यमेतन्निधेयम्,
धत्ते शोभामिदमिह [101]पुनर्नैतद् भवति सम्यक् ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालाम्,
योज्यं काव्येऽप्यवहितधिया तद्वदेवाभिधानम्[102] ।।97।।

।। इति श्रीप्रकाशवर्षकृतौ रसार्णवालङ्कारे शब्दालङ्कारप्रकाशनं नाम तृतीयः परिच्छेदः ।।

99. रवेन ० ० ० गूर्जरः ।
100. गौपः पठतु वा गाथां ० ० ० रतु सरस्वती ।
101. पुनर्नै ० ० ० ति सम्यक् ।
102. त ० ० ० भिधानम् ।

चतुर्थः परिच्छेदः

अर्थालङ्कारनिर्णयो नाम

अर्थालङ्कारलक्षणम्

अर्थालङ्कृतयस्त्वन्या अर्थोत्कर्षैकहेतवः।
[103]सचेतनमनोहराः सदनन्ताः प्रचक्ष्महे। ।1। ।

अष्टाविंशतिरर्थालङ्काराः

जातिर्हेतुरहेतुश्च सूक्ष्मसारसमाहितम्।
भावो विभावनाऽन्योन्यविरोधौ विषमं तथा।2। ।

संभवः प्रत्यनीकं च व्यतिरेकस्त्वसङ्गतिः।
तथा लेशाभिधानं च परिवृत्तिर्निमीलनम्। ।3। ।

वितर्कः स्मरणं भ्रान्तिरभावश्चागमश्च सः।
उपमानानुमाने च प्रत्यक्षं चार्थिकं तथा। ।4। ।

संशयोऽतिशयश्चैताऽष्टाविंशतिरीरिताः।

नानावस्तुषु जायन्ते यानि [104]रूपाणि वस्तुनः। ।5। ।

स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि [105]**जातिं** प्रचक्षते।
अर्थव्यक्तेरियं [106]भेदमियता प्रतिपद्यते। ।6। ।

[107]जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्।
[108]स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतवः। ।7। ।

ते संस्थानादयस्तेषु सा विशेषेण शोभते।
संस्थानमथ [109]चात्र व्यापारो वेष इत्यपि। ।8। ।

103. सचेतनमनो 0 0।
104. रूपाणि 0 0 0।
105. जातीन्प्रचक्षते।
106. भेदमि 0 0।
107. जहामानमसि।
108. स्वरूपमाश्रयं हेतुमिति त 0 दहेतवः।
109. चा 0।

स्वरूपमिति शंसन्ति तत्प्रपञ्चः प्रवक्ष्यते।
[110]बालवृद्धविदग्धा स्त्रीहीनजात्यादिराश्रयः। ।9। ।

तिर्यञ्चोऽपीति तल्लक्ष्यं दिङ्मात्रेण प्रदर्श्यते।
[111]देशकालकलाशक्तिसाधनानि च हेतवः। ।10। ।

अमीषामपि लक्ष्याणि यथायोगं प्रचक्ष्महे।
प्रवृत्तेर्वा निवृत्तेर्वा यत्कार्यं स्यान्निबन्धनम्। ।11। ।

तत्रास्य **हेतु**रित्याख्या षट्प्रकारः स कथ्यते।
एकः प्रवर्तको हेतुरन्यः कार्ये निवर्त्तकः। ।12। ।

अभावहेतुरपरो ज्ञापकोऽन्यः प्रयोजकः।
अन्यो बहुप्रपञ्चस्तु चित्रहेतुरिति स्मृतः। ।13। ।

क्वापि पत्रवशाबन्ध्यः क्वाप्यर्थान्तरबाधितः।
[112]इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः **सूक्ष्मः** सूक्ष्मगुणात्तु सः। ।14। ।

सूक्ष्मात् प्रत्यक्षतस्सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति भिद्यते।
स चाभिधीयमानः स्यात् प्रतीयमान एव च। ।15। ।

स द्विधापि द्विधा मिश्रो भूत्वा भवति षड्विधः।
[113]अकृतकार्य**महेतु**स्स्याद् यः सन्नपि कार्यकृत्। ।16। ।

[114]असारस्यनिरासेन सारसंग्रहणं खलु।
[115]**सार** इत्युच्यते सोऽपि धर्मिधर्मात्मना द्विधा। ।17। ।

[116]अप्रयत्नाद् प्रयत्नाद् वा कारणं सहकारि यत्।
आसाद्यते क्रियारम्भे तद् द्विधैव **समाहितम्**। ।18। ।

अभिप्रायार्थगा या तु प्रवृत्ति**र्भाव** इष्यते।
प्रसिद्धहेतुत्यागेन हेत्वन्तरविभावनम्। ।19। ।

स्वभावभावनं स्याद् [117]यत्र सोच्यते **विभावना**।
शब्दतो वार्थतो वापि द्वयतो वा पदार्थयोः। ।20। ।

110. बालवृद्धवि 0 0 स्त्रीहीनजात्यादिराश्रयः।
111. देशकालकलाशक्ति 0 0 नानि।
112. 0 0 ताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणस्तु सः।
113. 0 0 0 0 0 0 हेतुस्स्याद्।
114. 0 0 रस्यनिरासेन।
115. रस।
116. अ 0 0 0।
117. य 0 0 0 0।

उपकार्योपकारित्व**मन्योन्यम**भिधीयते।
मालारूपं यदन्योन्यं मालान्योन्यं तदुच्यते।।21।।

सर्वस्वं न्यस्यति प्रायस्तत्र [118]साक्षात् न भवति।
अन्योन्यभ्रान्तिमप्याहुरन्योन्यमिह कोविदाः।।22।।

काव्यवस्तूपकारित्वादुपलक्षणमेव वा।
अन्योन्यैकतया प्रायो वैचित्र्यं काव्यवस्तुनः।।23।।

अतस्तामपि नान्योन्यात् पृथगुक्तां पृथग्वक्ति[119]।
असङ्गतिः पदार्थानामुत्कर्षाधायिनी यदि।।24।।

वक्रिमाक्रान्तसौन्दर्यः स **विरोधो**ऽभिधीयते।
[120]क्रियापदविरोधोऽपि कथितः कविपुङ्गवैः।।25।।

नञा कृतविकारत्वात् स नोक्तः श्लेषलक्षणे।
[121]एवञ्च शब्दालङ्कारः संख्यागौरवभीरुणा।।26।।

न मया तत्र युक्तोऽपि पृथक्त्वेनोपवर्णितः।
असाम्यकारणोत्पन्नं कार्यं **विषम**मुच्यते।।27।।

प्रयोगः प्रायशस्तस्य सौन्दर्यमवलम्बते।
अनेककारणोत्पन्नदर्शनादिदमीरितम्।।28।।

भविष्यतीति यज्ज्ञानं स **सम्भव** इति स्मृतः।
विधिरूपो निषेधात्मा द्वयात्मा द्वयवर्जितः।।29।।

तद् दर्शनेषु तद् रूपं चतुर्द्धापि विभाव्यताम्।
प्रतिकूलफलोत्पत्तिमीप्सितार्थस्य कारणम्।।30।।

यत्करोति तदाख्यातं **प्रत्यनीकं** मनीषिभिः।
यत्राभिधाय साधर्म्यं वैधर्म्यमपि कथ्यते।।31।।

व्यतिरेकः स सविज्ञेयः सप्तधाऽसौ प्रपञ्च्यते।
एकोभयविभेदोऽर्थः सदृशासदृशोद्भवः।।32।।

118. साक्ष 0 0 0 ति।
119. पृथगुक्तं पृ 0 0 0।
120. 0 0 पदविरोधोऽपि।
121. 0 0 ञ्च।

स्वजातिव्यक्तिजन्मा च रूपकप्रकृतिस्तथा।
[122]कार्यकारणयोरत्र भिन्नदेशव्यवस्थितिः।।33।।

जायते तत् फलं सा तु स्मृता धीरै**रसंगतिः**।
दूषणस्य गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य वा।।34।।

द्वयं वा यत्र संश्लिष्टं तत्तु **लेशं** प्रचक्षते।
अन्यस्यान्यत्र विन्यासो द्रव्यस्य तु गुणस्य वा।।35।।

यत्र सा **परिवृत्त्याख्या** स्मृतालङ्कारकारिभिः।
तामाहुर्व्यत्ययेनैकामन्यां विनिमयेन च।।36।।

अन्यामुभयवाक्यार्थविमिश्रा [123]काव्यसूरयः।
वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुनान्येन चेद् भवेत्।।37।।

निमीलितमिति प्राज्ञैस्तदलङ्कार इष्यते।
हितं चाविहितं चैव तद्गुणोऽतद्गुणस्तथा।।38।।

नैतेषां लक्षणं भिन्नं निमीलितमभीयत।
[124]संशयनिर्णयोस्तु स्याद् य ऊहो निर्णयात्मनाम्।।39।।

स **वितर्क** इति ज्ञेयो निर्णयानिर्णयात्मकः।
[125]सदृशाददृष्टचिन्तनादेतु जायते स्मृतिः।।40।।

याऽनुभूतपदार्थानां **स्मरणं** तत्र कीर्तितम्।
[126]प्रत्यभिज्ञानमप्याहुर्न चार्थान्तरगतः स्मृतेः।।41।।

स्मृतिरस्वप्नायितं चान्या तथान्या व्यक्तिवर्जिता।
भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानमतत्त्वे तत्त्वकारिणी।।42।।

तत्त्वेऽप्यतत्त्वरूपा वा द्वयं तत् त्रिविधं भवेत्।
वाधितावाधितापूर्वं तथा कारणवाधितम्।।43।।

विहानार्थासंग्रहार्थावुपेक्षार्था तथेतरा।
काले कतिपया भ्रान्तिर्भ्रान्तिमालेति कथ्यते।।44।।

मालाभ्रान्तेर्न भिन्ना स्यादेतल्लक्षणलक्षणात्।
यत्र वस्तुनि नोल्लेखमात्रं ज्ञानस्य विद्यते।।45।।

122. कार्यकारण 0 0।
123. विमिश्रा 0 0 0 0 0।
124. संशया 0 0 0।
125. सदृशाददृष्टचित्तान्यस्म 0 0।
126. प्रत्यभिज्ञानमप्याहु नार्थान्तरनः।

साऽप्यनध्यवसायाख्या भ्रान्तिरेवेति मे मतिः।
कारणैरपि चेद् भ्रान्तिरपनेतुं न शक्यते।।46।।

स भ्रान्त्यतिशयोऽप्यत्र न भिन्नो भ्रान्तिलक्षणात्।
यद्यप्युत्कर्षमाप्नोति[127] कोऽप्यर्थः कविकौशलात्।।47।।

असत्त्वं तु पदार्थाना**मभाव** इति कथ्यते।
स भवेत् प्रागभावो वा प्रध्वन्साभाव एव वा।।48।।

[128]अत्यन्ताभावाभावो वा कल्पिताभाव एव वा।
आगमस्त्वाप्तवचनं दृष्टादृष्टार्थसाधनम्।।49।।

पुरुषार्थप्रभेदेन स चतुर्धा स्मृतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां शास्त्राण्यागम उच्यते।।50।।

आद्यन्तौ तावदृष्टार्थौ दृष्टार्थौ मध्यमौ स्मृतौ।

धर्मागमः

प्रवृत्यात्मा निवृत्यात्मा धर्मोऽयं द्विविधः स्मृतः।।51।।
[129]नानासमप्रभेदेन दुर्भणस्तस्य विस्तरः।
तथापि ब्रूमहे किञ्चित् मार्गमाणा प्रदर्शकम्।।52।।

अर्थागमः

आर्योक्तिरिति सन्त्यज्य वाक्यं सन्दर्भमर्थतः।
अर्थस्तु त्रिविधो ज्ञेयः पित्र्यः स्वः सञ्चितो नवः।।53।।

तदुपार्जितशास्त्राणामर्थागम इति स्मृतिः।
तत्र विद्या महीहेमपशुभाण्डमुपस्करः।।54।।

इदं मित्रमिदं पित्र्यमर्थजातं प्रचक्ष्महे।
कलत्रपुत्रसहितं दशधान्यद्वयं पुनः।।55।।

अस्यापि विस्तराख्यानं तद्ग्रन्थेष्ववधार्यताम्।
आसीन्माहेश्वरं शास्त्रमत्र कोटिप्रमाणकम्।।56।।

पुनस्तदपि संक्षिप्तमथ स्वायम्भुवं ततः।
वातव्याधेरपि ग्रन्थः सप्रपञ्चः प्रवर्तते।।57।।

127. 0 0 प्युत्कर्पमाप्नोति।
128. अत्यन्ता 0 0 0 वा।
129. नानासम 0 0 दनदुर्भणस्तस्य।

बृहस्पतेर्मतं चेदमिदमैन्द्रस्य[130] सम्मतम्।
इदं च विष्णुगुप्तस्य तथा कामन्दकेरपि।।58।।

कियन्तोऽन्येऽभिधातव्याः [131]कृतायेत्युपधेरपि।
अतस्तदर्थजिज्ञासा यदि वः सम्प्रवर्तते।।59।।

क्षणान्तरं [132]प्रतीक्ष्य तदन्यस्तावदुपक्रमः।
अन्योष्युपायः स्कन्धानामज्ञानेनार्थभाषणम्।।60।।

तेनैषां लक्षणाख्यानमात्रमत्रोपयुज्यते।
विनयेनार्जवं येन विद्यादेरर्थसम्पदः।।61।।

तेनासौ विनयस्कन्धः स्मृतो नतिविशारदैः।
पशुपोषखनिद्रव्यवणिग्वृत्त्यादिवार्तया।।62।।

स्ववृत्तिचिन्तनं येन वार्तास्कन्धः स उच्यते।
प्रजाविवादसम्बद्धन्यायान्यायनिरूपणात्।।63।।

अयं व्यवहतिस्कन्ध इति तज्ज्ञानैरुदाहृतः।
कण्टकाक्रान्तसामन्तरक्षणं येन चार्जनम्।।64।।

तेनायमर्थतन्त्रज्ञै रक्षास्कन्ध इति स्मृतः।
हेयोपादेयषाड्गुण्यसिद्धमन्त्रितमार्जनम्।।65।।

सुसिद्धं येन चार्थस्य मन्त्रस्कन्धस्तु तेन सः।
सामादिभिरुपायैस्तु येषामावर्जनं भवेत्।।66।।

उपायस्कन्ध इत्युक्तो मन्त्रस्कन्धाद् विभेदितम्।
प्रवणादिभिरन्येभ्यो येन चार्जनमिष्यते।।67।।

[133]विक्रमस्कन्ध इत्याख्यामयमालम्बते क्रमः।
जैत्रमन्त्रादिभिर्यत्र शास्त्रयुक्त्या प्रचोदिते।।68।।

अर्थ उपनिषत्स्कन्ध इति तं च प्रचक्षते।
चतुरङ्गेण युद्धेन यत्र विद्विषतां श्रियः।।69।।
[134]सम्पद्यते तमत्राहुर्युद्धस्कन्धं विशारदाः।

परोपद्रवसन्त्रासप्रशान्त्या यत्र लभ्यते।।70।।

130. चेदमिद 0 0 0 सम्मतम्।
131. कृताये 0 0 धेरपि।
132. प्रतीक्ष्यं।
133. विभ्रमस्कन्ध।
134. 0 0 0 ते।

अर्थः तथापि[135] सः प्राज्ञैः प्रशमस्कन्ध उच्यते।
अत्र चैते प्रदर्श्यन्ते यदि तैस्तैर्निदर्शनैः।।71।।

प्रकृतस्य विचारस्य तदा देयो जलाञ्जलिः।
उपयोगं विना किन्तु न क्वाप्यर्थो विराजते।।72।।

उपयोगान्दशैकस्मादर्थस्यास्य प्रचक्ष्महे।
क्वचिदेव हि कोऽप्यर्थो देशे देशे प्रवर्तते।।73।।

क्वचित्तस्योपयोगस्य देश एव निवन्धनम्।
कार्यत्वे सर्वसामान्ये कार्यं [136]कार्यान्तरार्थकम्।।74।।

अर्थान्तरानुवन्धित्वात् तत्र कार्यनिवन्धनम्।
उपकारादिनानार्थप्रतिघातो हि दृश्यते।।75।।

[137]तत्रानाथप्रतिघात उपयोगनिवन्धनम्।
दत्वार्थं वैरिणां सन्धौ कृते वैरं निवर्तते।।76।।

अतो वैरनिवृत्तिस्स्यादुपयोगनिवन्धनम्।
अर्थेन वर्तनं यच्च तद् विख्यातं गृहे गृहे।।77।।

[138]एवमेव ततो वृत्तिरुपयोगनिवन्धनम्।
गुणिनोऽपि दरिद्रस्य नादरः प्राकृताज्जनात्।।78।।

तस्मादर्थोपयोगार्थं भवेन् मानो निवन्धनम्।
अपि निर्व्याजवीरस्य न त्यागविरहे यशः।।79।।

तत्कीर्तिरेव तत्र स्यादुपयोगनिवन्धनम्।
तस्मादर्थार्जनोपायानुपयोगांश्च तत्वतः।।80।।

यतो जानन्ति धीमन्तः सोऽप्यर्थागम इष्यते।

कामागमः

स्त्रीपुंयोगस्तु कन्दर्पललितं काम उच्यते।।81।।

तत्रैकत्राभियुक्ते [139]स्त्रीपुंसयोर्यत्र तद् द्विधा।
तयोस्तु मन्मथक्रीडाचातुर्यावर्जनार्थिनोः।।82।।

135. ० ० पि।
136. कार्यान्त ० ० कम्।
137. तत्रा ० ० प्रतिघात।
138. ० ० मेव।
139. स्त्री ० ० ० यत्र।

शास्त्रं कामागमो नाम यथा [140]वात्स्यायनो वक्ति।
कन्या स्वस्त्री परस्त्री च सामान्येति च योषिताम्।।83।।

भवन्ति भेदाश्चत्वारः तत्रभेदास्त्वनेकशः।
तत्र कन्यागतः कामो द्विधा तज्ज्ञैरुदाहृतः।।84।।

वैवाहिको भवत्येको द्वितीयः पारदारिकः।
स्वस्त्री रूढावरूढेति द्विधा कामोऽपि तद्गतः।।85।।

दृष्टादृष्टफलः पूर्वो दृष्टार्थैकफलोऽपरः।
रूढावरूढा रण्डा च परस्त्री त्रिविधा भवेत्।।86।।

एक एव हि कामः स्यात् तद्गतः पारदारिकः।
सामान्या वनिता वेश्या कामस्तत्रैक एव हि।।87।।

[141]धीरैर्निसर्गचातुर्येर्ष्यातुरस्य प्रकीर्तितः।
अस्योदाहरणश्रेणी शास्त्रं पूर्वोपवर्णितम्।।88।।
[142]श्लोकमात्रे कथं शास्त्रं तथाप्येतत् प्रचक्ष्महे।

मोक्षागमः

आत्मनो वन्धनच्छेदादशरीरदशास्थितिः।।89।।

मोक्षः स्यात् तदुपायार्थं शास्त्रं मोक्षागमः स्मृतः।
यत्र दृष्टार्थसादृश्याददृष्टोऽर्थः प्रतीयते।।90।।

प्रतिविम्वमपि प्रेक्ष्य प्रतिविम्वि प्रतीयते।
अतस्तदपि रसज्ञै**रुपमान**मुदाहृतम्।।91।।

रूपं शंसन्ति मुद्रापि स्वनिमित्तस्य वस्तुनः।
उपमानान्न सा भिन्ना भवतीत्याह भामहः।।92।।

अविनाभाविना ज्ञानं यत्र लिङ्गेन लिङ्गिनः।
मानाख्यया तु तस्येह व्यवहारे मनीषिणाम्।।93।।

इन्द्रियार्थसमायोगाज्ज्ञातं यदुपजायते।
प्रत्यक्षं पञ्चधा तत् स्यादर्थपञ्चकभेदतः।।94।।

140. वात्स्यायना ० ०।
141. धीरैनिसर्गचातु ० ० तुरस्यप्रकीर्तितः।
142. श्लोकमात्रे ० ० त्रं।

यस्मिन्नत्यन्तसादृश्यात् सन्देहो वस्तुनोः भवेत् ।
स **संशय** इति प्राज्ञैरुपमासोदरस्तु सः । ।95 । ।

उदीरितमसंभाव्यं लोकवृत्तानतिक्रमात् ।
यदत्युक्तिपदाख्येयं विज्ञेयो**ऽतिशयो**ऽत्र सः । ।96 । ।

अर्थालङ्कृतयस्त्विमाः कविसभासम्भावनालिप्सुभि-
र्वाच्यास्सम्यगुदारबन्धमधुरैः काव्ये नियोज्याः सदा ।
पीयूषश्रुतिसुन्दरैरपि परैर्लब्ध्वा प्रमोदे रसं
सर्वोऽप्यर्थविशेषभावनपरः प्रायो विदग्धो जनः । ।97 । ।

। । इति रसार्णवालङ्कारे अर्थालङ्कारनिर्णयो नाम चतुर्थः परिच्छेदः । ।

पञ्चमः परिच्छेदः
रतिप्रपञ्चः शृंगारव्यक्तिश्च

उक्तस्सोऽयं विभावानुभावसञ्चारिसङ्करः ।
क्रमेण सर्वभावानां शृङ्गारेषु चतुर्ष्वपि । ।1 । ।

[143]व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्स्मृतः ।
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारेऽपि द्विधा मतः । ।2 । ।

समवाये च उद्भूतश्चिरं यश्चावतिष्ठते ।
भावः स्थायीति स [144]ज्ञेयो व्यभिचारी ततोऽन्यथा । ।3 । ।

अभीष्टालिङ्गनादीनामवाप्तौ यः प्रकाशते ।
सोऽस्मिन् सम्भोगशृंगारो विप्रलम्भो विपर्यये । ।4 । ।

विभावोऽपि द्विधैवात्रालम्बनोद्दीपनात्मकः ।
[145]एकोऽनुभवसंस्कारे जनकोऽन्यश्च बोधकः । ।5 । ।

[146]ततश्च प्रबुद्धे संस्कारेऽनुभावो भवेद् द्विधा ।
अन्तर्बहिश्च [147]भावोऽत्र सहैव व्यभिचारिभिः । ।6 । ।

[148]स्मृतीच्छाद्वेषयत्नानामन्तस्सन्तान इष्यते ।
मनोवाग्बुद्धिवपुषां बहिरारम्भ एव तु । ।7 । ।

[149]जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिह ।
विभावश्चानुभावश्च व्यभिचारीव पूर्यते । ।8 । ।

विभावाज्जन्म भावानामुद्दीपनविभावतः ।
[150]अनुबन्धोऽनुभावादेरनुबन्धः स कथ्यते । । ।9 । ।

---

143. स्थायी च व्यभिचारी च भावो द्विविध उच्यते ।
144. ज्ञेयोऽप्य 0 0 (रितथोन्यथा?) ।
145. एकोऽनुभव 0 0 र ।
146. ततः प्रबुद्धे । ।
147. भावोत्थ 0 नवव्यभिचारिभिः ।
148. स्मृतीच्छाद्वेषवर्णानामन्तःसन्तान ।
149. जन्मातिशयसम्पर्कानुगमानिह ।
विभावश्चात्र भावश्च व्यभिचारी च कुर्वते ।
150. अनुबन्धोऽनुभावेभ्यो प्रक 0 0 0 0 यते ।

[151]सम्पर्कस्तुल्यकालादिवलभावान्तरोदये ।
अनुगामित्वमन्येन स्थायिनोऽपद्रवे सति ॥10॥

[152]जन्मानुवन्धातिशयानुषङ्गात्ततः परं सानुगमान् क्रमेण ।
भावेषु तल्लक्षणलक्ष्ययोगात्, पञ्च प्रपञ्चानुपवर्णयामः ॥11॥

[153]रोष भावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमाङ्कुरः ।
सौहृदाङ्कुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपि दर्शितः ॥12॥

भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्यो रतिभावः प्रपञ्च्यते ।
कविवर्गः समग्रोऽपि तमेनमनुधावति ॥13॥

[154]निसर्गसंसर्गमुखैः प्रभेदैर्जन्मानुवन्धातिशयादिभिश्च ।
इदं विनिश्चित्य निवेशयन्तः, कवीन्द्रभावं कवयो लभन्ते ॥14॥

॥ रतिप्रपञ्चः समाप्तः ॥

[155]चतुर्विंशतिरित्येते भावा हर्षादयो मया ।
उक्ता जन्मादिभेदेन प्रायः सम्भोगभेदतः ॥1॥

अतः परं प्रवक्ष्यन्ते विप्रलम्भसमाश्रयाः ।
चतुर्विंशतिरुत्कण्ठाचिन्तास्मृत्यादयोऽपरे ॥2॥

[156]एते रत्यादयो भावाश्शृङ्गारव्यक्तिहेतवः ।
कात्स्न्यदिकोनपञ्चाशद् यथाभेदं प्रकाशिताः ॥3॥

[157]जन्मानुवन्धातिशयसम्पर्कानुगमादिति ।
युञ्जीत सर्वभावेषु वर्गयोरुभयोरपि ॥4॥

151. रम्पर्करतुल्यतातुल्यवलभावान्तरोदयं ।
अनुगामित्वमन्येन रथायिनोऽपह्नवं सति ॥
152. जन्मानुवन्धातिशया 0 0 0 0 0 0 0 धानुगमात् ।
153. काम 0 0 0 माङ्कुरः ।
154. निसर्गसंसर्गमुखैः प्रभेदः, जन्मानुवन्ध 0 0 0 दिभिश्च ।
155. चतु 0 0 0 तिरित्येते वा ।
156. ए 0 0 0 दयो ।
157. 0 0 0 वन्धातिशयसम्पर्कानुगमानिति ।

[158]यदपि च गदितं प्रकर्षगामी भवति रसो रतिविस्मयादिरेव ।
तदपि न समञ्जसं प्रकृष्टाः प्रतिनिजभेदममी हि सर्व एव ॥5॥

॥ इति प्रकाशवर्षकृतौ रसार्णवालङ्कारे शृङ्गारव्यक्तिः
पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

श्रीरस्तु । हरिहर - - - - - - - - - - - गर्भेभ्यो नमः ।

158. यदपि च गदितं प्रहर्ष 0 0 तिरसो रतिविस्मयादिरेव ।
तदिमिति निराकृतं प्रकृष्टाप्रकृतिभेदममी हि सर्व एव ॥